नवीन मत अथवा कपोलकल्पित मतों को प्रकट करके अनेक मुग्धजनों को अपने मायाजाल में फसाकर रसातल के भागी बना देते हैं फिर उक्त मुग्धों को उनके जाल से मुक्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

हमको अन्यमतावलम्बियों से वादानुवाद (धर्मचर्चा) करने पर यही प्रतीत हुआ कि अपने हठ का त्याग करना किसी को अच्छा मालूम नहीं होता। बड़े ही खेद की बात है कि जब विद्वानगण सत्य का परित्यागकर केवल हठपूर्वक अपने मन्तव्य ही को सिद्ध करना चाहते हैं तो उक्त विद्वानों की गणना किस वर्ग में हो सक्ती है यह पाठक स्वयं विचार लें।

सत्य ग्रहण व असत्य का परित्याग करो! इस प्रकार सब ही धर्मावलम्बी कहते हैं और सभा समाजों में अपने लम्बे २ व्याख्यानों को सुनाकर अपने मन की आह (ज्वाला) निकालते हैं किन्तु सत्य किस चिड़िया का नाम है इसका निर्णय किए बिना ही निरर्थक प्रलाप करना ठीक नहीं, जब तक मनुष्य पक्षपात का चश्मा दूर नहीं करेगा तब तक वह सम्यक्द्रष्टा नहीं कहा जा सक्ता।

वाणी और अर्थ का सम्बन्ध अत्यन्त महत्व का है बहुधा विद्वान् लोग भी अपने विचारों को असंबद्धता और अस्पष्टता करके शब्दाडंबर द्वारा आच्छादन करने का प्रयत्न किया करते हैं और जैसी कल्पना मन में उत्पन्न हुई मुखद्वारा व लेखिनीद्वारा प्रकाशित हुए शब्द भी वैसे ही निकलते हैं चाहे संदिग्ध हों अथवा असंदिग्ध। सामान्य नियम ऐसा है कि जो विचार मनोगत होते हैं वही शब्दों में भी आ जाते हैं अपने मनोगत विचार व मुखद्वारा निर्गत होनेवाले उद्गार इन दोनों के बीच में नित्य सम्बन्ध हो या अनित्य हो परन्तु यह बात सत्य है कि जो विचार आधे या अस्पष्ट होते हैं उनके द्योतक शब्द भी वैसे ही होते हैं इसके अतिरिक्त यह भी सत्य अनुमान है कि जिसके भाषण में अर्थात् वाग्विलास में संदिग्धता होती है उसके विचारों में भी अवश्य संदिग्धता होती है अनेक बार ऐसा बनाव बनता है कि एक वा दो शब्द या वाक्य किसी ने एक स्थल पर पढ़े किंवा प्रसंग

वश सुने, वे किसी कारण उसके शीघ्र ही मन में भर जाते हैं किन्तु उनके तात्पर्यार्थ के पूर्ण ज्ञान न होने से उन शब्दों का रूढ़ अर्थ किस विषय पर है और आनुषङ्गिक अर्थ किस पर है अर्थात् कौनसा अर्थ किस स्थान पर उचित है यह न समझकर केवल आनुषङ्गिक अर्थ पर ध्यान देने से उसकी बुद्धि में अवश्य ही भ्रम हो जाता है और भ्रम के होने से विचारों में भी दोष आने का संभव है और उक्त दोष के कारण न तो विचारों की संदिग्धता दूर होती है और न वे शुद्ध विचारों को प्रकट कर सक्ते हैं। जो महाशय स्वतः पूर्णतया नहीं समझ सक्ते तो वे दूसरों को किस प्रकार समझा सक्ते हैं, कदापि नहीं, कदापि नहीं ! कतिपय महाशय भस्मावच्छन वक्तृता (व्याख्यान) देकर या लेख लिखकर अपनी वाक्चातुरी से अल्पज्ञ लोगों के सामने विद्वान् बनने का दावा करते हैं परन्तु पूर्ण सत्यशोधक विद्वानों के सामने उनकी वाक्चातुरी नहीं चल सक्ती क्योंकि जो विद्वान् होते हैं वे जान जाते हैं कि यह कैसे व्याख्याता वा लेखक हैं; किसी शास्त्रकार का कथन है कि "नास्तिकोऽपि वरं शत्रुर्भस्माच्छन्नो न जैमिनिः" तात्पर्य यह कि जो लोग असंदिग्ध व स्पष्ट भाषणादि कर सक्ते हैं वे सम्यक्रीत्या समझा सक्ते हैं किन्तु जिनके समझने में ही भूल हो वे बोलने में अथवा लिखने में भूल करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

जगत का कर्त्ता ईश्वर है अर्थात् सृष्टि ईश्वर की रची हुई है इस बात को स्वीकार करने वाले वेदमतानुयायी, नैयायिक, वैशेषिक, शाक्त, शैव, वैष्णव, मुसलमान व ईसाई आदि मतवालों की वाक्विडंवना बड़ी ही आश्चर्य-जनक है उक्त मतवालों ने संदिग्ध शब्दों में जगन्नियन्ता ईश्वर के सिद्ध करने का पूर्णतया साहस किया है किन्तु उनके विचार युक्तिसंगत कदापि नहीं हो सक्ते। देखिए उनके वेदों में भी सृष्टिरचना के लिए एक मत नहीं है निम्न लिखित मंत्रों से आप को विदित हो जायगा कि इनके शास्त्रों में कितना पूर्वापर विरोध है।

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया ।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्याद्‌त्तरे युगे ॥ १ ॥
ब्रह्मणस्पतिरेतासं कर्मार इवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ २ ॥
देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ॥
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥ ३ ॥
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ॥
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥ ४ ॥
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ॥
तां देवा अन्वजायंन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥५॥

ऋग्वेदसंहिता मं० १० । सू० ७२

भावार्थ[1]-ब्रह्मणस्पति कर्मार के अनुसार देवताओं के जन्म को करता हुआ, देवताओं के पूर्व युग में असत् से सत् हुआ और सत् से दिशा और तदनन्तर उत्तानपद हुआ और उससे पृथ्वी, पुनः उस पृथ्वी से दिशा (आशा) हुई और अदिति से दक्ष हुआ और दक्ष से अदिति हुई है। हे दक्ष ! तेरी दुहिता अदिति का जन्म हुआ तदनंतर स्तुत्य (स्तुति करने के योग्य) व अमर ऐसे देवों का जन्म हुआ

देखिए आगे के मंत्रों में कैसा वर्णन है:-

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततोरात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतोवशी ॥ २ ॥

---

१ इस अर्थ को हमने अपनी ओर से न करके सायणभाष्यानुसार ही किया है ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

ऋग्वेदसंहिता १० । १९१

भावार्थ—तप से सत्य और सत्य से अनन्तर रात्रि हुई तदनन्तर समुद्र व पश्चात् उसके संवत्सर, अहोरात्र यथाक्रम उत्पन्न होते भए ; धाता ने सूर्य चंद्रमा को यथापूर्व कल्पना किए और आकाश, पृथ्वी, अंतरिक्ष आदि की कल्पना की; अर्थात् रचे ।

पूर्वोक्त मंत्र ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी हैं । अब तैत्तिरीयब्राह्मण में किस प्रकार का लेख है सो देखिए:—

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् ।
तेन प्रजापतिरश्राम्यत् । कथमिदं स्यादिति ॥
सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत् । सोऽमन्यत ।
अस्ति वैतत् । यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति ॥
स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत् ।
स पृथिवीमध आर्च्छत् । तस्या उपहत्योदमज्जत् ॥
तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् । यदप्रथयत् ।
तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् ॥ १ ॥

तैत्तिरीयब्राह्मण अष्ट० १ । अ० १ । अ० ३

भावार्थ—प्रथम जल था उसके ऊपर पृथ्वी उत्पन्न हुई इत्यादि वर्णन है उक्त वर्णन के अनुसार (किन्तु कुछ अन्तर वाला) वर्णन तैत्तिरीयसंहिता में है; देखिए—

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तस्मिन्प्रजापति-
र्वायुर्भूत्वाऽचरत्स इमामपश्यत्तां वराहो भूत्वाऽहरत्तां

विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट् साऽप्रथत सा पृथिव्यभवत् तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् ॥

तैत्तिरीयसंहिता अष्ट० ७ । १ । ५

उक्त मंत्र में जल के पीछे वायु और तदनन्तर पृथ्वी का उत्पन्न होना इत्यादि क्रम भेद लिखा है अब उपानिपदों में सृष्टिक्रम जो दिया है उसका भी थोड़ा सा अवलोकन कर लीजिए—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।

तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली २ अनु० १

भावार्थ—उस आत्मा से आकाश और उस से वायु, तदनन्तर अग्नि, जल, पृथ्वी, ओपधी, अन्न, पुरुष इस क्रम से एक से एक उत्पन्न हुए ऐसे ही अन्य बहुत से ग्रंथों में सृष्टिक्रम अनेक रीति से लिखा है परन्तु उक्त सर्व मतों के विरुद्ध व उनसे विचित्र वर्णन तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थल पर लिखा है उसको भी देख लीजिए—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमा वरीवः कुहकस्य शर्मन्। अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्। न मृत्युरमृतं तर्हि न। रात्रिया अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं। तस्माद्धान्यं न परः किंचनास। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं। सलिलं सर्व्वमा इदं। तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत। तमसस्तन्महिना जायतैकं। कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि। मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् । हृदि प्रतीष्या कवयो म-
नीषा । तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषां । अधस्विदासी३
दुपरि स्विदासी३त् । रेतोधा आसन् महिमान
आसन् । स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥

तैत्तिरीयब्राह्मण का० २ । प्र० ८ । अ० ९

उक्त वाक्यों में पूर्व सृष्टि का प्रलय होकर उत्तर सृष्टि उत्पन्न होने के प्रथम सत्, असत्, आकाश, जल, मृत्यु, अमृत, रात्रि, दिन, सूर्य, चन्द्र इत्यादि कुछ भी नहीं थे केवल ब्रह्म मात्र ही था उसकी सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई और फिर सब जगत उत्पन्न हुआ इत्यादि वर्णन कर के पुनः आगे निम्न लिखित वर्णन है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् । कुत आजाता
कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय । अथा
को वेद यत आ बभूव । इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव ।
यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे
व्योमन् । सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद । किंस्विद्वनं
क उ स वृक्ष आसीत् । यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥

तैत्तिरीयब्राह्मण का० २ । प्र० ८ । अ० ९

उक्त मंत्र वाजसनेयसंहिता के अध्याय १७ का ३२वां है एवं ऋग्वेदसंहिता के अ० १० । १२९वां है । भावार्थ इस मंत्र का यह है कि यह विविध सृष्टि किस से व किसलिए उत्पन्न हुई यह वास्तव में कौन जानता है ? वा कौन कहने को समर्थ है ? देवता भी पीछे से हुए फिर जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई इस बात को कौन जानता है ? जिससे द्यावा, पृथ्वी हुई वह वृक्ष कौन सा व वह किस वन में था यह कौन जानता है ? इन सभों का अध्यक्ष परमाकाश में है वही

जानता है किंवा वह भी नहीं जानता यह किसे मालूम ! जग-दुत्पत्ति का कारण जानने वाला कोई भी नहीं, और उत्पत्ति क्रम भी प्रत्यक्ष किसी को मालूम नहीं, ऐसा अभिप्राय पूर्वोक्त मंत्र में है।

ऋग्वेद में एक जगह पर जो मंत्र लिखा है उस का भी अवलोकन करलीजिए:—

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् । और—रथ्यममृताधितस्थुः ॥

ऋग्वेदसंहिता १-३५-६

भावार्थ—"द्युलोक तीन, तिनमें से—दो सविता के उदरमें और एक यम के भुवन में है। चंद्र तारादि—अमर उसके ऊपर बैठे हुए हैं" ऐसा कह कर आगे उसी ऋचा में ऋषि कह रहा है कि—

इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ।

भावार्थ—यह सब जिसने जान लिया हो ऐसा कोई हो तो उसे यहां पर आके कहने दो, सारांश यह कि प्रत्यक्ष जाननेवाला (जग-दुत्पत्ति का) कोई भी नहीं है ऐसा इस ऋचा में ऋषि का मत है आप लोग इन वेद मंत्रों से भली भाँति जान लिये होंगे कि वेदों में सृष्टि-क्रम में पूर्वापर कितना विरोध है और कई ऋषियों का मत तो ऐसा भी दिखाई दे रहा है कि सृष्टि किसी की भी रची हुई नहीं है फिर वेद-मतानुयायी किस साहस पर सृष्टि ईश्वरकृत मानते हैं यह मालूम नहीं होता, जो लोग वेदों को अनादि व अपौरुषेय मानते हैं उन्हीं वेदों में ऐसा पूर्वापर विरोध भरा हुआ है फिर बतलाइये ? कौन वेदों की बात पर विश्वास रक्खेगा ? एक स्थान पर तो कहदिया कि असत् से सत् हुआ और सत से दिशा हुई इत्यादि व दूसरे स्थल पर कहदिया कि तप से सत्य इत्यादि फिर एक जगह पर कह दिया कि प्रथम जल था उस के ऊपर पृथ्वी हुई—और फिर अन्य स्थल पर लिख दिया कि जल के पीछे वायु व तदनंतर पृथ्वी फिर एक जगह ऐसा भी लिख दिया कि उस आत्मा से आकाश व उस से वायु तदनंतर अग्नि, जल,

पृथ्वी इत्यादि, और फिर दूसरों की तर्कताप से बचने के लिए ऐसा भी लिख दिया कि प्रत्यक्ष में सृष्टि की उत्पत्ति जाननेवाला व कहनेवाला कोई भी नहीं है और सृष्टि किसकी रची हुई है यह भी किसे मालूम ? देखिए जिनको संशय शत्रु ने पग पग पर घेरा है उनके विचारों को कौन स्वीकार करेगा !

सृष्टि के कर्ता को मानने वालों का कहना है कि-चराचर जगत् का निर्माण और संहार अर्थात् उत्पत्ति और विनाश, ईश्वर स्वतः अपनी अचिन्त्य शक्ति के माहात्म्य से करता है, यदि केवल सृष्टि रचा ही करे तो असंख्य प्राणिगण त्रिभुवन में भी न ठहर सकें अर्थात् कहीं स्थानही न मिले इसलिये साथ ही साथ संहार भी करना पड़ता है। पृथ्वी, पर्वत, सुधाकर, दिनकर, महासागरादि जो जो वस्तु हैं वे संपूर्ण किसी बुद्धिमान् की रचित अवश्य हैं। जैसे घट, पट;—कुम्भकार, सूत्रकार के रचे हुए हैं वैसे पृथ्वी पर्वतादिक के लिये भी रचयिता होना आवश्यक है। ऐसा विभु, नित्य, एक, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, परमेश्वर के विना अन्य दूसरा कोई भी नहीं है, इस संसार में प्राणिमात्र जो चलनादि व्यवसाय करते हैं वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से करते हैं, ऐसा, सृष्टि ईश्वरकृत मानने वालों का कहना है, इस बात को जैनधर्म अस्वीकार करता है, और बौद्ध व प्राचीन सांख्य जो इस बात को अस्वीकार करते हैं तो प्रायः इन्होंने जैनधर्म का अनुकरण किया हो ऐसा हमारा मत है क्योंकि जैनधर्म बहुत प्राचीन है और इस धर्म के तत्त्व विश्वास करने योग्य हैं, यह कहना हमारा पक्षपात या हठ से नहीं, किन्तु सत्यतापूर्वक है और सत्यदर्शी जनों को भी स्वीकार करना ही होगा कि प्राचीन से प्राचीन जो संसार में धर्म है तो जैनधर्म ही है जिसकी आद्य व्यवस्था किसी भी इतिहासकार ने युक्तियुक्त वर्णन नहीं की यदि एक आधे ने द्वेषबुद्धि से कहीं लिख भी दिया हो तो इससे प्राचीनता नष्ट नहीं हो सक्ती। कई विद्वानों की ऐसी भी समझ है कि बौद्ध व वैदिक मत बहुत प्राचीन है। परंतु जैनधर्म इनसे भी प्राचीन धर्म है क्योंकि बौद्धशास्त्रों में और वैदिकशास्त्रों में जैनधर्म विषयक खण्डन-मण्डनादि

२

दृष्टिगत होते हैं देखिए बौद्ध पीठिका में लिखा है कि "निग्गन्थनाथ पुत्र और अग्गी वैशायन गोत्र का सुधर्मा अपने पक्ष के शत्रु हैं" इधर वेदव्यास जी के रचित "व्यास सूत्र में "नैकस्मिन्नसंभवात्" (वेदा० सू० २।२।३३) इस सूत्र पर शङ्कराचार्य का रचित भाष्य है, उसमें उन्होंने जैनों की स्याद्वाद-सप्तभङ्गी का खण्डन करने का साहस किया है। इत्यादि प्रमाणों से कह सक्ते हैं कि बौद्ध से और वैदिक धर्म से जैनधर्म प्राचीन है यदि उस समय जैन धर्म नहीं होता तो बौद्धों के शास्त्रों में और वैदिक शास्त्रों में खण्डन मण्डन कहां से हो सक्ता? अतः इस विषय में पूर्वोक्त प्रमाण पर्य्याप्त है और जैनों का जो यह कहना है कि सृष्टि किसी की भी रचित नहीं है यही बात बहुत ठीक मालूम होती है!

सृष्टि को ईश्वररचित मानने से अनेक दोष आते हैं और अनादि मानने से एक भी दोष नहीं आता इस बात को इस ग्रन्थ में अच्छे प्रकार से दिखाया जायगा, पाठक ध्यान पूर्वक पढ़ें।

जगत्कर्ता माननेवालों का कथन है कि "सृष्टि ईश्वर ने निर्माण की है वह विदेह ईश्वर सर्वशक्तिमान है और वेद उसी परमात्मा के रचे हुए हैं" इसके प्रत्युत्तर में विदित हो कि विदेह ईश्वर देह के विना सृष्टि कैसे रच सका? अर्थात् कारण विना कार्य नहीं होता, फिर बतलाना होगा कि उस विदेह ईश्वर को सृष्टि रचने से क्या प्रयोजन था? विदेह ईश्वर के लिये जगत् के रचना करने में प्रवृत्ति अनुचित व असंभव है, यदि कहा जाय कि ऐश्वरीय माया से जगत उत्पन्न हुआ है तो वह माया ईश्वर से भिन्न है या अभिन्न? और वह जगन्नियन्ता प्रभु भी स्वतन्त्र है या परतन्त्र? यदि स्वतन्त्र कहोगे तो जगत् माया से उत्पन्न हुआ है यह कहना झूठा होगा, और परतन्त्र कहोगे तो विभु सर्वशक्तिमान्-पना कहां रहा, वह तो परतन्त्र ठहरा? यदि यह कहोगे कि ईश्वर ने कौतुक में आके खेल किया है तो इस से आपका सर्वशक्तिमान् ईश्वर राजकुमारवत् रागवान् सिद्ध होता है और जहां राग है

वहां द्वेष भी है इससे आपका ईश्वर; रागी, द्वेषी कहा जायगा और राग, द्वेष होना ईश्वर के लिए दूषण है अतएव उस ईश्वर को कोई भी बुद्धिमान् नहीं कह सक्ता, यदि कहोगे कि कृपा से सृष्टि निर्माण की है तो संपूर्ण जीव जन्तुओं को सुखी बनाना था ? संसार में दुःख, दुर्गति, दरिद्रता; सूकर, मार्जारादिक दुष्ट योनि, जन्म, मरण, जरा, क्लेश इत्यादि अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित असंख्यात प्राणिगण दिखाई देते हैं बतलाइये ! आप के कृपालु ईश्वर ने जीवों को दुःखी क्यों रचा ? इससे आप के जगत्कर्ता ईश्वर को कृपालु कहना नितान्त असत्य है यदि आप ऐसा कहोगे कि जिस जीव के जैसे शुभाशुभ कर्म थे तदनुसार वे रचे गये तो इस कथन से आप के जगन्नियन्ता की स्वतन्त्रता नष्ट हो चुकी क्योंकि जैसे हम तुम कर्माधीन कार्य करते हैं तैसे ईश्वर भी कर्मवस हुआ। तो अब कहिये ईश्वर ने कर्म विना स्वतः क्या रचा ? यदि जैसा कर्म जिसका था तैसा उसने रच दिया कहोगे तो आप लोगों का जो यह कहना है कि "संपूर्ण कार्य ईश्वराधीन ही होते हैं" इस जगह पर कर्माधीन होते हैं यह कहना होगा। तात्पर्य यह है कि ईश्वराधीन कुछ भी नहीं है और ईश्वर को भी कर्माधीनही मानना पड़ेगा। और सुख दुःखादि तथा जगत् की विचित्रता कर्मजन्य है तो फिर आप के विश्वकर्मा शिखंडी ने क्या विश्व की रचना की ! यदि आप कहोगे कि उसकी रचना समझ में नहीं आ सक्ती है तो क्या आपने विनाही समझे विश्वकर्त्ता मान लिया ? और जो आप के शास्त्रों में सृष्टि निर्माण के लिये जितना लिखा गया है वह विना समझे ही लिखा गया है ? वेदों मे सृष्टिरचना का क्रम जो है वह हम प्रथम लिख ही चुके हैं और उन मंत्रों से सिद्ध होता है कि वेद ईश्वरप्रणीत नहीं हैं और न वेदों में सृष्टि के लिये एक मत है, धन्य है आप की मान्यता को !

यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा मान लिया जाय कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर है तो प्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर देहधारी है या अदेह धारी ? यदि कहा जाय कि देहधारी है, तो देहधारी के पुण्य पाप भी होना संभव है क्योंकि पुण्य पाप विना शरीर (पुद्गल) नहीं बनता, यदि

कहा जाय कि ईश्वर देहरहित है तो शारीरक अवयव (हाथ-पाव-मुख-नासिका-करण-नेत्रादि) विना किसी प्रकार की भी रचना बन नहीं सक्ती। जो लोग कहते हैं कि "जैसे कुम्भकार ने घट बनाया तद्वत् ईश्वर ने भी सृष्टि की रचना की है" यह उदाहरण ईश्वर की अदेहित्व नष्ट करने वाला है क्योंकि कुम्भकार तो अपने हस्त पादादि अवयव द्वारा कुम्भादिक पात्र की रचना करता है और ईश्वर तो हस्त पादादि अवयवों से रहित है अतएव आप के ईश्वर ने किन अवयवों के द्वारा सृष्टि निर्माण की है। कुम्भकार का दृष्टान्त तो आपका यहां निरर्थक है क्योंकि देहधारी का दृष्टान्त अदेहधारी पर नहीं लग सक्ता, यदि आप कहोगे कि ईश्वर देह धारण भी कर सक्ता है तो निराकार—नित्य—निरंजन—निर्लेपादि उपमा देना अयुक्त है और देहधारी होने से ईश्वर तुह्मारे हमारे सदृश मनुष्य होना चाहिए और सब को नेत्रों से दिखाई देना चाहिए।

जिन ईश्वरवादी जनों के हृदय में ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो कि जगत्-कर्ता ईश्वर ही है उनसे हम प्रश्न करते हैं कि यदि सृष्टि का निर्माणकर्ता ईश्वर है तो उपादान कारण कौन रहा? यदि कहेंगे कि ऐश्वरीय शक्ति है तो वह शक्ति ईश्वर से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि अभिन्न है तो बतलाना उचित है कि जड़ है या चेतन? यदि जड़ है तो बतलाइये वह नित्य है या अनित्य? यदि भिन्न और नित्य है तो सब से प्रथम, एक नित्य पदार्थ ईश्वर ही है, यह कथन नितान्त असत्य हुआ, यदि कहोगे कि वह शक्ति अनित्य है तो उसका उपादान कारण कौन है? और यह नियम है कि नित्य से अनित्य वस्तु का उत्पन्न होना सर्वथा असंभव है, यदि शक्ति ईश्वर से अभिन्न है तो ईश्वर और शक्ति यह पृथक् पृथक् नाम से मानना ही वृथा ठहरा और संपूर्ण पदार्थ ईश्वर रूप ही हैं ऊंच—नीच—राजा—रंक—नरक—स्वर्ग—अधर्म—धर्म सब को ईश्वर ही कहना कोई दोष नहीं और इससे तो आप के ईश्वर ने सृष्टि क्या रची किन्तु अपना स्वरूप ही बिगाड़ लिया, धन्य हैं महाशय! आप का ईश्वर हो तो ऐसा ही हो!

बड़ा आश्चर्य है कि सृष्टि को ईश्वररचित स्वीकार करनेवाले अपनें हृदय में यह नहीं विचार करते कि जब ईश्वर ने सृष्टि रची उस समय उपादान

कारण रूप पदार्थ क्या था ? अर्थात् सामग्री कहां से लाए कि जिस से सृष्टि निर्माण की जैसे कुम्भकार (कुँभार) घट की रचना मृत्तिका, जल, चक्रादि पदार्थ की सहायता विना नहीं कर सक्ता, तद्वत् जगन्नियन्ता ईश्वर को सृष्टिनिर्माण करते समय सामग्री अवश्य चाहिये; यदि कोई कहे कि सामग्री तो अनादि से है तो यह सिद्ध हो चुका कि सामग्री ईश्वर रचित नहीं है तो महाशय ! आपके ईश्वर ने क्या रचना की ? और यह कथन भी नितान्त असत्य हो चुका कि "सब से प्रथम ईश्वर ही था, और ईश्वर ने ही संपूर्ण पदार्थों की रचना की है" क्योंकि सामग्री ईश्वरकृत न होने से संपूर्ण पदार्थ ईश्वर के रचे सिद्ध नहीं हो सक्के, फिर ईश्वर ने क्या रचना की।

कितने कहते हैं कि ईश्वर निराकार होकर भी सृष्टि रचना करने की सामर्थ्य न रक्खे तो वह सर्वशक्तिमान् किस रीति से हो सक्ता है ? इसके प्रत्युत्तर में यह कहना चाहिये कि सर्वशक्तिमान् वह कदापि नहीं कहा जा सक्ता, क्योंकि वह स्वतः अपना स्वरूप विगाड़ चराचर में विद्यमान होकर सर्वशक्तिमान् वनना चाहे तो नहीं वन सक्ता। सृष्टि रचना करने से ईश्वर में रागद्वेष रूप दोष प्राप्त होते हैं और जिसमें राग द्वेष रूप दोष है उसको सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहना सर्वथा अयुक्त है।

अरूपी ईश्वर से रूपी पदार्थों की उत्पत्ति मानना प्रमाण से बाधित है, क्योंकि आप का अरूपी सर्वशक्तिमान् ईश्वर संसार की रचना करते समय सामग्री कहां से और किन हाथों से लाया ? यदि क्षण भर जीव का कर्त्ता ईश्वर को मान भी लें तो यह विरोध आता है कि कार्य अपने उपादान कारण से भिन्न नहीं हो सक्ता, यदि जीवों का उपादान कारण ईश्वर ही है तो वतलाना होगा कि जीव–ईश्वर की ऐक्यता में अंतर क्यों मानते हो ? और ऐश्वरीय इच्छा से जीव प्रतिकूल क्यों दिखलाई पड़ते हैं अर्थात् ईश्वर ने जो जो आज्ञाएं दी हैं उन आज्ञाओं से विपरीत क्यों चलते हैं ? अनेक मनुष्य प्रसंगवस ऐसा उद्गार निकाला करते हैं कि "अमुक मनुष्य को दुर्बुद्धि उत्पन्न होने का

कारण केवल ईश्वरीय इच्छाही है" हम पूँछते हैं कि ईश्वरीय इच्छा ईश्वर की आज्ञा से प्रतिकूल भी हो जाती है? अर्थात् ईश्वर जीवों को दुर्बुद्धि भी देता है? इससे तो ईश्वर ने जीवों को दुर्बुद्धि दे के जान बूझ कर नरक को भेजने का प्रयत्न किया, धन्य है आप के सृष्टि कर्ता दयालु ईश्वर को! दयालु हो तो ऐसा ही हो।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से वध कराना व उस घातकी मनुष्य को राज्यद्वारा प्राणनाशक कठोर दंड दिलाना यह कार्य ईश्वर के लिए कितनी वहादुरी का है! धन्य है आप के ईश्वर को व ईश्वरीय इच्छा को! यदि कहा जाय कि एक कार्य तो ईश्वर ने किया और दूसरा कार्य जीव ने किया यह ठीक नहीं है क्योंकि जीव ईश्वरीय इच्छा के सिवाय कुछ करही नहीं सक्ता तो फिर जीव ने कैसे किया और यह दिखाना अनुचित नहीं होगा कि सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ता ईश्वर को किस युक्ति से मानते हैं! एक स्थल पर तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर की इच्छा से कर्म किया और दूसरे स्थल पर जीव ने स्वकर्मानुसार किया यह भी खूब पूर्वापर विरुद्ध वचन है!

एक स्थान पर लिखा है कि परमेश्वर ने अपने आप में विचार किया कि मैं सकल संपूर्ण पदार्थों को उत्पन्न करूं; इस विचार के पूर्ण करने को तपस्या की, तदनन्तर सकल पदार्थों के मूल कारण को उत्पन्न किया और उनको अपना आत्मा दिया इस प्रकार से संपूर्ण पदार्थ उत्पन्न हुए। अब यह परामर्श करने का स्थान है कि निराकार ईश्वर ने किस शरीर से तपस्या की और अपना आत्मा कैसे दिया? सकल पदार्थों के मूल कारण को किस सामग्री से बनाया! तपस्या किसके प्रीत्यर्थ की? क्योंकि तपस्या का फल कोई देनेवाला होगा, तभी तो ईश्वर को तपस्या करनी पड़ी होगी! जैसे हम तुम किसी भी देवता के आराधन के लिये तपस्या करते हैं तो वह देवता उस तपस्या का फल देता है तद्वत् ईश्वरने तपस्या की तो उसका फल देनेवाला भी कोई होना ही चाहिए। और यहाँ पर यह भी शङ्का उत्पन्न होती है कि प्रथम अकेला निराकार ईश्वर ही था और सकल पदार्थ तो ईश्वर ने पीछे से रचे फिर ईश्वर ने किस स्थान

पर बैठ के तपस्या की होगी और उसका फल किस द्वारा प्राप्त हुआ होगा ? जो लोग ईश्वर को सर्वशक्तिमान् जगत् का कर्ता हर्ता मानकर भी कोर्ट कचेहरियों में पुलिस कान्स्टेबलों के हाथों के धक्के खाते फिरते हैं उस समय उनका सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपने रचे जीवों की रक्षा करने में क्या असमर्थ है ? क्या उस समय ईश्वर का सर्वशक्तिमान्पना नष्ट हो जाता है ? उत्पन्न करने की शक्ति रखना व पालन करने में अशक्त हो जाना क्या यह बात सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ता ईश्वर को उचित है । सत्यग्राही जन तो तब आपका सर्वशक्तिमान् ईश्वर स्वीकार करेंगे कि जब ईश्वरवादियों के लिए प्रत्यक्ष में सर्व जीवों के सन्मुख (जो नहीं मानते उनके भी सामने) आकर कहे कि हे मेरे उत्पन्न किए हुए प्राणिगणों ! मैं तुह्मारे लिए उपस्थित हूं, और जो मेरे को सर्वशक्तिमान् जगत् कर्ता ईश्वर नहीं मानते उनके लिए मैं उपस्थित नहीं हूं । परंतु ऐसा तो दृष्टिगत नहीं होता जो लोग जगन्नियन्ता ईश्वर स्वीकार करते अथवा नहीं करते हैं उन दोनों के लिए सांसारिक संपूर्ण बातें एक समान दृष्टिगत होती हैं फिर आपके जगत्कर्ता ईश्वर को सर्वशक्तिमान् हम किस न्याय से कहें। कितने कहते हैं कि ईश्वर अखण्ड ब्रह्माण्ड में व्यापक है ।

"जले विष्णुः स्थले विष्णुराकाशे विष्णुमालिनी ।
विष्णुमालाकुले लोके नास्ति किंचिदवैष्णवम्" ॥

भावार्थ—जल में विष्णु, स्थल में विष्णु, आकाश में विष्णु, जो कुछ है वह विष्णु ही की पङ्क्ति माला अर्थात् सर्व लोक विष्णु ही की माला (पङ्क्ति) करके भरा हुआ है अतएव ऐसी कोई भी वस्तु संसार में नहीं है कि जो विष्णु का रूप नहीं है ।

ईश्वर को ऐसा संपूर्ण घट पटादि पदार्थों में व्यापक स्वीकार करने से ईश्वर की अखण्डता नष्ट हो जायगी और ईश्वर खंड खंड हो जायगा व ईश्वर को सर्वव्यापी मानने से अनेक दोष आते हैं जीवों में व्यापक होने से निर्लेपता नष्ट होकर कर्मरूपी मैल ईश्वर को लगना

उचित है व जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःख का भी भागी होना होगा, निरावरणता नष्ट होकर सावरणता प्राप्त होगी इत्यादि अनेक दोष प्राप्त होने का संभव है, ऐसा कौन मूढ़ है कि जो उत्तम पद को त्याग अधम पद प्राप्त करने की इच्छा करेगा ! ईश्वर संपूर्ण सुखमय होकर उसको संसार के दुःखों में आकर फसने की क्या बुद्धि हुई ! क्योंकि जीव स्वतः परम पद अर्थात् ईश्वरपदाभिलाषी होकर ज्ञान भक्ति आदि करता रहता है और सांसारिक वन्धन से मुक्त होना चाहता है, परंतु आपके वचन तो वडे ही आश्चर्यजनक हैं, धन्य है ! आप के कर्ता हर्ता ईश्वर को कि जो स्वतः सांसारिक दुःखो में भाग लेने को विभक्त होता है !

कितनेक कहते हैं कि यह संसार ईश्वरीय विभूति है अर्थात् जीव ईश्वर का अंश है इस वाक्य से यह ध्वानित होता है कि जीव और ईश्वर में अंशांशी भाव संवन्ध है। यदि क्षण भर के लिए कदाचित् ऐसा ही मान लिया जाय तो जीव ईश्वर के सदृश होना चाहिए ! क्योंकि अंशांशी में भेद नहीं हो सक्ता। सारांश यह कि ईश्वर के तुल्य जीव को भी निर्मल होना चाहिए ? यदि जीवों को निर्मल स्वीकार करेंगे तो कर्म रूप मल लगाने का क्या प्रयोजन हुआ ? ईश्वर जीव को अपना अंश जानते भी कर्म रूप मल लगाता है यह कितना आश्चर्य है और जीव ईश्वर का अंश होने से नरकगामी ईश्वर भी हुआ। सुखी हो वह भी ईश्वर और दुःखी हो वह भी ईश्वर, संसार परिभ्रमण करै वह भी ईश्वर, इससे तो सिवाय ईश्वर के कोई भी स्थल शून्य नहीं ठहरा। यदि ऐसा है तो वैर, विरोध, कलह, सुख, दुःख, दीन, दरिद्री, पापी, हत्यारा इत्यादि सब ईश्वरही ठहरा, कर्ता भी वही और भोक्ता भी वही। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्रादि में ईश्वर व्यापक है तौ फिर ब्राह्मण को उत्तम और चाण्डालादिक को नीच मानने से क्या प्रयोजन ? क्योंकि ईश्वर तो सर्व जीवों में व्यापक है। आश्चर्य है कि अपने अंश को घात करनेवाला ईश्वर आपही है ! यह विचारने का स्थान है कि स्वतः अपने अंशो को घात करने से घातकी ठहरा, और घातक रूप कलंक युक्त स्वतः ही है तो दूसरों के कलंक दूर करने की सामर्थ्य

कहां से आई, स्वतः दरिद्री होकर अन्य को धनाढ्य किस प्रकार कर सक्ता है ? कभी नहीं कर सक्ता। तद्वत् आपका ईश्वर भी अन्य का कलङ्क दूर नहीं कर सक्ता। ऐसे कलङ्की और अन्यायियों को ईश्वर कहना भी अयुक्त है। अविनाशी को विनाशी, निराकार को साकार, निर्दोषी को दोपी इत्यादि संपूर्ण दोष जगत्कर्त्ता ईश्वर के मानने में प्राप्त होते हैं।

कितने लोगों की यह समझ है कि सृष्टि का कर्त्ता कोई होना ही चाहिए क्योंकि संसार की अद्भुत रचना दिखलाई पड़ती है इसका स्वाभाविक होना असम्भव है और कर्मादि जड़ पदार्थों से जगदुत्पत्ति होना संभव नहीं है अतएव जगत् ईश्वरकृत कृत्य होना संभावित है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहना चाहिये कि यदि आपके कथन से क्षण भर ऐसा मान भी लेवें तो ईश्वर प्राणियों का कारण हुआ और सब पदार्थ ईश्वर के कार्य हुए अतएव ईश्वर पिता और सब पदार्थ पुत्ररूप मानना पड़ेंगे यदि ईश्वर को पिता मानें तो सब पदार्थों पर ईश्वररूप पिता का प्रेम होना उचित है और सब संसार के प्राणियों को सुखी रखना पिता का धर्म है परन्तु संसार में तो अनेक दुःखी भी दिखाई पड़ते हैं, कितनेही पापी, कितनेही पुण्यवान्, कितनेही धर्मी अधर्मी, मनुष्य हैं यह किस प्रकार हो सक्ता है ? क्या यह बात पिता के योग्य है कि पुत्रों को दुःख दे ? यहां पर यदि कोई यह कहे कि लायक पुत्रों को सुख देता है और नालायकों को दुःखी करता है तो इसके प्रत्युत्तर में कहना चाहिये कि लायक नालायक होने की बुद्धि का दाता भी तो आप ईश्वर को ही मानते हैं फिर एक को लायक बुद्धि देना और दूसरे को नालायक बुद्धि देना यह ईश्वर के लिए कितना अनुचित है ? ईश्वर प्रवर्तक होकर कई जीवों को कुबुद्धि देकर नरक का भागी बना देता है और कई जीवों को सुबुद्धि देकर स्वर्ग का भागी बना देता है इसमें दुर्गति में जानेवाले जीवों ने ईश्वर की क्या हानि की थी और सुगति में जानेवालों से ईश्वर को क्या लाभ हुआ ? यदि इसका उत्तर देने को असमर्थ होते भी अपना हठ नहीं त्याग सक्ते तो धन्यवाद है आपको ! आपके ईश्वर हों तो ऐसेही हों।

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के स्वीकार करनेवाले सज्जन यह नहीं परामर्श करते कि ईश्वर को संसार की रचना करते समय ऐसी क्यों दुर्बुद्धि उत्पन्न हुई कि संसार की रचना के करने के साथ ही अनेक मत मतान्तर भी रच दिए, क्या उसने यह नहीं जाना था कि अनेक मत मतान्तर रचने से मुझे कोई अच्छा कहेगा और कोई बुरा। अनेक मनुष्य शिव-विष्णु की पूजा अर्चा करते हैं और अनेक यवनादि मनुष्य उन्हीं शिव-विष्णु की निन्दा करते हैं। संसार में अनेक शाक्त और अनेक शैव तथा अनेक लौकिक मत धारी हैं, कोई गाणपत और कोई वैदिक हैं इस प्रकार अनेक मत मतान्तर रचकर संसार में निरर्थक परस्पर कलह, कदाग्रह बढ़ाकर ईश्वर ने क्या लाभ उठाया ? क्या सृष्टि रचयिता इस बात से अज्ञ था ? कि अनेक मत मतान्तर रचने से कोई मेरे को धिक्कार देंगे और कोई अच्छा भी कहेंगे। अतः सिद्ध हुआ कि जगत् ईश्वर का रचा हुआ नहीं है किन्तु अनादि है।

सृष्टिकर्ता ईश्वर स्वीकार करनेवाले यह भी कहते हैं कि बुद्धि ईश्वरदत्त है इस पर हम पूछते हैं कि एक गौ की पूजा करता और दूसरा अर्थात् यवनादिक गाय का वध करता है यह दोनों को बुद्धि ईश्वर ने दी या दूसरे ने ? बतलाइए जब बुद्धि का प्रेरक ईश्वर है तो एक को सुबुद्धि देना और दूसरे को नष्टबुद्धि देना क्या ईश्वर के लिए न्याय है ? इसलिये उपर्य्युक्त आपका कहना भी अयुक्त है।

जो लोग यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि का अधिपति ईश्वर ही है और जगत उसका ऐश्वर्य है इसीसे ईश्वर को ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है, जो ऐश्वर्यवान हो वही ईश्वर कहा जा सक्ता है, इसके प्रत्युत्तर में विदित होकि जगत् का आधिपत्य लेने से ईश्वर को क्या प्रयोजन था ? जगत्रूप ऐश्वर्य ईश्वर को किस लिए चाहिए था ? क्या जगदुत्पत्तिरूप ऐश्वर्य को जगन्नियन्ता ईश्वर ने भूतपूर्व कभी प्राप्त नहीं किया था ? जगदुत्पत्ति के प्रथम ईश्वर के समीप ऐश्वर्य नहीं था ?

प्राप्त होने के प्रथम अनीश्वर था? क्या सृष्टि रचने से ही ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है? जो ईश्वर को ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है वह किसी का दिया हुआ है या स्वतः उत्पन्न हो गया? यदि ऐश्वर्य किसी का भी दिया हुआ मान लिया जाय तो देनेवाला कौन? यदि स्वतः उत्पन्न होना मानोगे तो किस रीत्यनुसार और किस स्थान पर प्राप्त हुआ? यदि जगन्नियन्ता स्वीकार करनेवाले ऐसा कहें कि द्रव्य से मनुष्य धनाढ्य कहलाता है और प्रजा से राजा कहलाता है तद्वत् जगत्रूप ऐश्वर्य से ईश्वर कहलाता है इसके उत्तर में आप स्वतः विचार करें कि जब जगत् के ऐश्वर्य से ईश्वर कहलाता है तो सृष्टि के प्रलय हो जाने पर ऐश्वर्य नष्ट भी होजाना चाहिए? जैसे धनाढ्य का धन चले जाने से धनाढ्यता नष्ट हो जाती है अर्थात् फिर वह धनाढ्य के स्थान पर दीन दरिद्री कहलाता है तद्वत् ईश्वर को भी अनीश्वर स्वीकार करना होगा? और साथ ही साथ यह भी कहना होगा कि कभी ईश्वर है और कभी अनीश्वर है, अतः सिद्ध हुआ कि जगन्नियन्ता ईश्वर जगत् का अधिपति नहीं है।

कितने लोगों का कहना है कि सृष्टि की उत्पत्ति के प्रथम ईश्वर ने ऐसा सङ्कल्प किया कि मैं अपनी सामर्थ्य प्रकट करूँ—

"एकोऽहं बहु स्याम"

भावार्थ—मैं एक से अनेक बनूं। ईश्वर को सृष्टि रचना करने का यही प्रयोजन था इसलिये सृष्टि निर्माण की, यदि ऐसा है तो स्मरण रहे जहाँ संकल्प है तहाँ विकल्प भी है, अतः आपका ईश्वर संकल्प विकल्प सहित ठहरा? संकल्प विकल्पमय सिद्ध होने से उसको सर्वथा ईश्वर नहीं कह सक्ते। जो ईश्वर ने अपनी सामर्थ्य प्रकट की वह किसको बतलाने को की? और "मैं अपनी सामर्थ्य प्रकट करूं" ऐसी इच्छा जीवबुद्धि को होना उचित है अतः आपका ईश्वर जीवबुद्धि ठहरा, और जीवबुद्धि होने से उसको सर्वज्ञ कहना अयुक्त है, क्योंकि ईश्वर होकर सामर्थ्य प्रकट करना न करना इत्यादि कार्य बो देहधारी

को होना चाहिए ! किन्तु आप तो अदेहधारी मानते हैं। जिसको संशय शत्रु ने घेरा है और संकल्प विकल्प करता है उसको जो मनुष्य सर्वज्ञ कहता है वह केवल हठवाद के सिवाय कुछ नहीं करता ! ईश्वर को सामर्थ्य दिखाकर किसी के पास से इनाम प्राप्त करना था ! यदि कहोगे कि नहीं; तो वृथाही आपके परमेश्वर ने इतना परिश्रम क्यों किया ? एकसे अनेक रूप होने में ईश्वर को क्या लाभ हुआ ? क्या सांसारिक जीवों से प्रशंसापत्र (Certificate) प्राप्त करना था ? और जो यह कहना है कि सामर्थ्य प्रकट करने के लिये जगदुत्पति की है तो यह कथन भी नितान्त असत्य है क्योंकि किसको वतलाने के लिये सामर्थ्य प्रकट किया और किसको वतलाने को सृष्टि उत्पन्न की ! क्या उस समय कोई दूसरा ईश्वर का मित्रादि विद्यमान था ! जिसको वतलाने के वास्ते इतना भारी खेद उठाना पड़ा, आपलोगों का मन्तव्य तो यह है कि संपूर्ण पदार्थ ईश्वर के रचे हुए हैं, फिर सामर्थ्य वतलाने के लिए सृष्टि निर्माण की यह कथन आप का पूर्वापर विरोध से भरा है या नहीं ? ईश्वर को सामर्थ्य वतलाने की इच्छा कभी नहीं होना चाहिए अतएव यह भी आप का हेतु ठीक नहीं है।

कई महाशयों का यह भी अभिप्राय है कि ईश्वर का जगत् रूप शृंगार है, यह उसने अपना रूप विस्तार किया है, संसार रूप अपना मुख देख अपने ही मन में आप आनंदित होता है। इसका प्रत्युत्तर यह है कि इस कथन से तो ईश्वरवादी जी ! आप के ईश्वर ने अपना स्वयं ही स्वरूप विगाड़ लिया, क्योंकि मार्जार, वराह, अज, महिषादि, नाना प्रकार के रूप जितने हैं सभी उसीके रूप जानने चाहिए ?

कितने कहते हैं कि—

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥१॥

भावार्थ—एक ही भूतात्मा अर्थात् ईश्वर, प्राणीमात्र में पृथक् पृथक् व्यवस्थित होता है, जैसे जलभरे पात्रों में चंद्र के प्रतिबिम्ब

पृथक् पृथक् दिखलाई पड़ते हैं तद्वत् ईश्वर भी घट घट व्यापी है। तात्पर्य-ईश्वर विम्ब है और जीव प्रतिविम्ब है। परंतु यह कहना भी अज्ञता से भरा है क्योंकि विम्ब के सदृश प्रतिविम्ब होता है, जैसे द्वितीया का चंद्रमा धनुपाकार छोटा होता है तो जल में भी उसका वैसाही धनु-पाकार छोटा ही प्रतिविम्ब दीखता है और पूर्णिमा का चंद्र स्थाली के आकार गोल होता है तो जल में भी प्रतिविम्ब वैसाही गोल दृष्टिगत होता है, अथवा कांच के भवन (आदर्श भवन) में जो कोई मनुष्य प्रवेश करे उसका जैसा विम्ब होगा वैसाही प्रतिविम्ब चारो ओर नजर आवेगा तद्वत् ईश्वर का प्रतिबिम्ब संसार को स्वीकार करने से स्पष्ट विरोध आता है, क्योंकि कोई सुखी कोई दुःखी, और कोई पापी कोई धर्मी इत्यादि नाना प्रकार की विचित्रता संसार में दिखलाई पड़ती है, अत-एव संसार को ईश्वर का प्रतिविम्ब किस हेतु से माना जाय क्योंकि यह स्वाभाविक नियम है कि विम्ब की सादृश्य प्रतिविम्ब में होना ही चाहिए जैसे ईश्वर को अविनाशी मानते हो तद्वत् संसार को भी अवि-नाशी स्वीकार करना योग्य होगा। जैसा ईश्वर कर्मरहित है तैसे जीवों को भी कर्मरहित होना चाहिए ? तो ऐसा तो दिखाई नहीं देता इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर का प्रतिविम्ब जगत् नहीं है। ईश्वर सुखमय है और संसार दुःखमय है, देखिये ? यह प्रत्यक्ष विरोध आता है इस से आपका कहना असत्य हुआ।

कई महाशयों का यह अभिप्राय है कि चराचर में आत्मा (ईश्वर) एकही है और पुद्गल भिन्न भिन्न हैं।

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१॥

भावार्थ—जिसके सब जगह पर हाथ, पग, आंख, शिर, और मुख है और सब स्थान पर जिसके कान हैं सब और संपूर्ण पदार्थों में व्यापक हो के रहता है सब और संपूर्ण वृत्तियों (व्यवहारों) का स्थान हो के ठहरा हुआ है। तात्पर्य-गरुड से आदि लेकर कीटिका पर्यन्त सब और संपूर्ण पदार्थों में

आत्मा एकही है । यदि ऐसा हो तो एक व्यक्ति के पाप करनेपर सारे संसार को लगना चाहिए ? और एक जीव मुक्त हो जाने से संपूर्ण संसार का मोक्ष हो जाना चाहिए ! एक प्राणि के बंधनयुक्त होने से सारे संसार को बंधयुक्त होना चाहिए ? भिन्न भिन्न, जीवों का अनुष्ठान (क्रिया) भी निष्फल होना चाहिए । परंतु यह बात तो दिखाई नहीं देती और पापी धर्मी, देव, नरक, ऊँच, नीच, चाण्डाल, ब्राह्मण, राजा, प्रजा, चोर, साहूकार, पिता, पुत्र, माता, स्त्री, पुरुष, भाई, बहिन इत्यादि भिन्न भिन्न कैसे दिखाई पड़ते हैं अतः सिद्ध हुआ कि सब संसार में **आत्मा एक नहीं किन्तु अनेक है ।**

कितने कहते हैं कि जितने कार्याकार्य होते हैं वे सब ईश्वरीय इच्छा से होते हैं—

"ममेच्छा कापि नास्ति ईश्वरेच्छा प्रवर्त्तते"

यदि ईश्वरीय इच्छा से ही कार्याकार्य का होना मान लिया जाय तो विष खाने से मृत्यु, और धान्य भक्षण करने से क्षुधा की शान्ति, जल से तृषा की निवृत्ति, अग्नि से शीतहरण, ताप से खेदोत्पत्ति, वर्षा से धान्योत्पत्ति, द्वेष से वैरोत्पत्ति, नम्रता से स्नेहोत्पत्ति, चोरी से ताडन, पाप से नरक, पुण्य से स्वर्ग इत्यादि **कारण और कार्य** निरर्थक हो जायँगे, और जितने पदार्थ हैं वह सब अपने गुण दोषों से रहित मानना होगा, क्योंकि ऐश्वरीय इच्छा से ही संपूर्ण कार्याकार्य मान लिए जायँ तो राग करनेवाला स्नेही और द्वेष करनेवाला शत्रु यह कहना अनुचित होगा, क्योंकि राग द्वेष भी ईश्वरीय इच्छा से ही उत्पन्न होते हैं । संपूर्ण कार्य करने का मूल कारण एक ईश्वरीय इच्छा होने से पाप पुण्य का करनेवाला, और भोगनेवाला ईश्वर ही ठहरा ? यदि ऐसा है तो किसी को पापी, किसी को धर्मी कहने से क्या प्रयोजन है ? और आपका शुद्ध, जगन्नियन्ता ईश्वर कार्य के साथ में अकार्य भी जब करता है तो डाकू लुटेरे आदि की उपमा उसको देना भी अनुचित न होगा, और उसके उत्पन्न किए हुए जीव अकार्य करने में प्रवृत्त हों तो उस में

आश्चर्य ही क्या ! धन्य है आपके ईश्वर को और आपको ! परंतु याद रखिये ईश्वर कभी अकार्य सुकार्य नहीं करता वह निरन्तर निर्दोष है अतएव सिद्ध हुआ कि कार्याकार्य होते हैं वे ईश्वर की इच्छा से नहीं किन्तु शुभाशुभ कर्मों से होते हैं।

कितने सज्जन यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सृष्टि के आदि में जीव के शरीर और सांचे को बनाना ईश्वराधीन है पश्चात् पुत्रादि सन्तति उत्पत्ति करना जीव का कर्तव्य है देखिए ! क्या जगत्कर्ता स्वीकार करनेवाले सज्जन ! इतने में ही थक गए !! और फिर ऐसा भी कहते हैं कि नाना प्रकार के कर्म जीव किया करते हैं उन कर्मों का करानेवाला ईश्वरही है अतः ईश्वर की प्रेरणा विना जीवों से कर्म नहीं हो सक्के। देखिए ! यह कथन कितना पूर्वापर विरोध से भरा हुआ है एक स्थान पर कहना कि सृष्टि के आदि में जीव के शरीर का सांचा बनाना ईश्वराधीन है और दूसरे स्थल पर कहना कि नाना प्रकार का जीव कर्म करता है उन कर्मों का करानेवाला ईश्वरही है और दूसरे के तर्क-ताप से बचने के लिये किसी स्थल पर यह भी कह देते हैं कि जीव जैसा करता है वैसा पाता है देखिए ! ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवालों के आप्त वाक्य में कैसा न्याय भरा है ? यदि नाना प्रकार के जीव कर्म करते हैं उन कर्मों का करानेवाला ईश्वरही है तो कर्मों का कर्ता भी ईश्वरही ठहरेगा क्योंकि क्रिया का प्रेरक ही कर्ता हो सक्ता है और जो कर्ता हो वही भोक्ता होना चाहिए, कर्ता के सिवाय भोक्ता अन्य नहीं ठहर सक्ता, और कर्ता भोक्ता ईश्वर को मानने से पाप पुण्य भी ईश्वर ही को लगना उचित है, जैसे किसी एक मनुष्य ने यष्टिका (लकड़ी) से किसी एक पुरुष को मारा, उसका पाप लकड़ी को कभी नहीं लग सक्ता, बल्कि मारनेवाले को ही लगा यह कहना होगा; तद्वत् जीव के किए हुए पाप पुण्य का प्रेरक ईश्वर होने से पाप पुण्य का भागी ईश्वर को ही मानना होगा, क्योंकि कर्म का कर्ता जीव तो यष्टिका के तुल्य है "कर्ता भोक्ता महेश्वरः" इस बात से सिद्ध हुआ कि जीव कुछ करता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं जब कर्ता भोक्ता जीव नहीं है

तो स्व स्व धर्मानुसार जो जो मनुष्य स्नान, सन्ध्या, मद्य मांस परित्याग, तप, जप, नियम, ध्यान, दान इत्यादि अनेक प्रकार के अनुष्ठान, पाप निवारण के लिए करने का कष्ट क्यों उठाते हैं और प्रायश्चित्तादि भी लेना वृथा ही होगा ? और सज्जन दुर्जन भी किसी को कहने की आवश्यकता नहीं है ? और कर्ता भोक्ता ईश्वर को कहने से हर्ष, शोक भी जीव को नहीं किन्तु ईश्वर ही को होता समझना चाहिए ! और जो यह कहावत है कि **"जैसा करेगा वैसा पावेगा"** यह सत्य नहीं है क्योंकि जब कर्ता भोक्ता ईश्वर है तो जीव क्योंकर पावेगा क्योंकि क्रिया का प्रेरक ईश्वर है। अनेक मनुष्यों के वृन्द हाथ जोड़ के भक्तिपूर्वक ईश्वर की प्रार्थना करते हैं कि **"हे प्रभु ! हमारे पाप आप निवारण करो !"** ऐसी प्रार्थना के स्थान पर ऐसी प्रार्थना क्यों नहीं करते कि **"हे परमेश्वर तुम ही कर्ता और तुमही भोक्ता हो तुम्हारे किए पाप तुमही भोगो और तुमही अपने दूर करलो"** और कर्ता भोक्ता ईश्वर के होने से प्राणिगण को प्रार्थना करने की भी आवश्यकता नहीं है। जगत् का कर्ता स्वीकार करने वालों के आप्त ग्रन्थों में कहा है कि पाप दूर करने के लिये ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिये और कर्ता भोक्ता ईश्वर को कहकर एक प्रकार से मनुष्यों को भ्रमजाल में फसाने का साहस करना है, अतएव सिद्ध हुआ कि कर्ता भोक्ता ईश्वर नहीं किन्तु जीवही है।

जगत् कर्ता ईश्वर स्वीकार करने वालों का कहना है कि—

"सर्वज्ञ ईश्वरः"

वेदादि शास्त्रों में जगत्कर्ता ईश्वर को सर्वज्ञ माना है, यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर सर्वज्ञ है तो अपने प्रतिपक्षी रावण, वक्रदन्त, शिशुपालादि राक्षसों को क्यों उत्पन्न किया, यदि कहा जाय कि राक्षसयोनि ईश्वर की अज्ञता में उत्पन्न हुई है तो इस वाक्य से आप का जगन्नियन्ता ईश्वर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता किन्तु असर्वज्ञ हुआ, जो संपूर्ण पदार्थों को निरन्तर और संपूर्ण रीत्या जानताही रहे उसी को सर्वज्ञ कहना उचित है परंतु आपके ईश्वर ने तो राक्षसयोनि अज्ञता में उत्पन्न की इससे आप

के ईश्वर में अज्ञता का दूषण आया या नहीं ? यदि ऐसा कहेंगे कि ईश्वर ने रावणादि राक्षसों को जान बूझ कर उत्पन्न किया था तो इस पर इस प्रश्न का उद्भव होता है कि राक्षसयोनि के उत्पन्न करते समय क्या ईश्वरने यह नहीं जाना था कि जो राक्षसलोग उत्पन्न होंगे वे मेरे प्यारे देवताओं को दुःखी करेंगे, और फिर देवतालोग मेरा स्मरण करेंगे और मुझे उनकी भक्ति के वश होकर राक्षसों को संग्राम [युद्ध] करके मारना पड़ेगा तथा देवताओं की रक्षा करनी होगी ? अब विचारिये कि ईश्वर को राक्षसयोनि उत्पन्न करने से लाभ के स्थान पर हानि भोगनी पड़ी या नहीं ? इससे तो राक्षसयोनि को नहीं उत्पन्न करते तो श्रेय था, क्योंकि ईश्वर को अवतार धारण करने का और युद्ध में अतुल बल देखाने का परिश्रम नहीं करना पड़ता । दूसरी बात यह है कि प्रथम उत्पन्न किया और फिर उनसे युद्ध करके उन्हें मार डाला इससे ईश्वर को क्या लाभ हुआ ?

महदाश्चर्य है कि विचारा जगत्कर्त्ता ईश्वर उत्पन्न करने का और मारडालने का निरर्थक परिश्रम रात दिन करताही रहता है। उपर्युक्त बातों को विचार करने से विदित होता है कि जगन्नियन्ता ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है किन्तु असर्वज्ञ है ।

"ये ये हताश्चक्रधरेण दैत्या-
स्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन ॥
ते ते गता विष्णुपुरीं नरेन्द्राः !
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः" ॥

श्लो॰ २३ पाण्डवगीता.

भावार्थ—चक्रधारी त्रैलोक्यनाथ जनार्दन ने जिन जिन दैत्यों को मारा वे सब विष्णुपुरी [मोक्षपुरी] को गए अतएव ईश्वर का क्रोध भी वर के तुल्य है ।

देखिए ! ईश्वर ने जितनों को मारा उतने सब मुक्त होगए ! तो अपने प्यारे देवताओं और भक्तजनों से भी शीघ्र राक्षसों को विष्णुपुरी देता है। जगत्कर्ता कैसा न्यायशील है इस बात का यह एक नमूना है कि

जो प्रतिपक्षी होकर ईश्वर से युद्ध करते हैं वे शीघ्र मुक्तिपद को चले जाते हैं और जो जीव ईश्वर की भक्ति करनेवाले हैं, अर्थात् भक्तजन हैं उनको मोक्ष देने में ईश्वर विलम्ब करता है अतः इस मन्तव्य को स्वीकार करने वाले सज्जनों को उचित है कि ईश्वर से भक्ति के वदले शत्रुता करें कि जिससे शीघ्र मुक्ति हो जाय और जो जो इस मन्तव्य को स्वीकार करनेवाले मित्र भक्ति करते होंगे वे वड़ीही भूल करते हैं, यदि शीघ्र मोक्ष प्राप्त करना हो तो ईश्वर से प्रतिपक्षी होने का प्रयत्न करें, कदाचित् इसीलिए राक्षसों ने यह सरल मार्ग स्वीकार किया होगा? और जो कहते हैं कि हमारे ईश्वर ने हमको आज्ञा दी है कि "मेरी भक्ति करो"। इसपर यह कहा जा सकता है कि सायत तुमको ईश्वर ने वञ्चित करके शीघ्र मुक्त न होने का उपाय वतलाया हो! यदि वुद्धिमान् हो तो अपने ईश्वर का कथन कदापि स्वीकार नहीं करना जिससे तुम शीघ्र मुक्त होजाओ। देखिए! सृष्टिकर्ता स्वीकार करनेवालों ने मोक्षप्राप्ति का कैसा उत्तम उपाय शोचा है।

जगत्कर्ता स्वीकार करनेवालों का कहना है कि ईश्वर जव संहार करता है उस समय (ईश्वर) स्वतः पहिले प्रागवट वृक्ष के पत्ते पर जाके सो जाता है और जव सृष्टि रचने का विचार होता है तव जागता है। हम पूछते हैं कि जव सृष्टि का प्रलय हुआ उस समय प्रागवट किस स्थान पर जा ठहरा था? प्रागवट सृष्टि में है कि वाहर! यदि सृष्टि के वाहर प्रागवट मानोगे तो यह सिद्ध हुआ कि सृष्टि के वाहर भी कई पदार्थ हैं, यदि सृष्टिही में मानते हो तो सृष्टिप्रलय के साथ प्रागवट का प्रलय क्यों नहीं हुआ और प्रलय के समय किस स्थान पर जा ठहरता है? और आप लोगों का यह जो फरमाना है कि पृथ्वी जलमयी हो जाती है फिर उसके ऊपर केवल प्रागवट ही दृष्टिगत होता है यदि ऐसा है तो यह स्वीकार करना होगा कि पृथ्वी, जल, वट, महाप्रलय के अनन्तर भी रहते हैं, यदि ऐसा आप मंजूर करेंगे तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि ईश्वर ने संहार किन २ पदार्थों का किया? और महाप्रलय किस न्याय से हुआ।

अतः सिद्ध हुआ कि संपूर्ण पदार्थ शाश्वत हैं, क्योंकि सृष्टि उत्पन्न करने के प्रथम पृथ्वी, जल, प्राग्वट जीव और परमाणु कायम थे तो फिर आपके ईश्वर ने क्या सृष्टि रची। जगत्कर्त्ता तो जब सिद्ध हो कि विना किसी पदार्थों की सत्ता से स्वतः ईश्वर का सब पदार्थ उत्पन्न करना सद्धेतुद्वारा सिद्ध कर दिया जाय। परन्तु असत्य बात कहां तक सत्य हो। और जो यह कहना है कि महाप्रलय में सो जाता है तो क्या ईश्वर को निद्रा भी आया करती है? क्या ईश्वर सोता जागता भी है? जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, आहार, विहारादि दशा देहधारियों को होती है, और आपलोग तो ईश्वर को अदेही मानते हैं इससे आपका मन्तव्य निरर्थक हुआ क्योंकि अदेही का जागना और सोना नहीं बन सक्ता और विना शरीर के प्राग्वट पर जाना आना सोना भी नहीं हो सक्ता, इसलिए अदेही ईश्वर के लिए यह एक दूषण है और इससे ईश्वर सृष्टि का कर्ता, हर्त्ता है यह कहना भी असत्य हुआ।

कितनेक लोग कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, और शिव यह त्रिमूर्ति सर्वज्ञ है और संसार में जो कुछ पदार्थ है सो यही है, परंतु हमारी समझ से तो वे सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि शिव ने अज्ञान से पार्वतीपुत्र गणेश का शिरच्छेदन किया। यदि सर्वज्ञ होते तो क्या यह नहीं जान सकते थे कि यह मेरी प्राणवल्लभा पार्वती से उत्पन्न हुआ मेरा पुत्र है? इत्यादि अनेक दृष्टान्त शैव मत के शास्त्रों में मिलते हैं उनके देखने से हम शिव को सर्वज्ञ नहीं कह सक्ते।

इधर जब रावण ने सीता का हरण किया उस समय रामचन्द्रजी विष्णु के अवतार और साक्षात् परमेश्वर सर्वज्ञ होकर भी वन के वृक्षों से पूछते फिरे कि—

"भो वृक्षाः पर्वताग्रे बहुकुसुमयुता वायुना धूयमानाः,
सा सीता केन नीता मम हृदयप्रिया कोमला कापि दृष्टा,,

मेरी सीता, किसीने देखी? मेरी सीता, किसीने देखी? ऐसा जब पूँछते फिरते थे उस समय उनकी सर्वज्ञता कहाँ जाती रही थी? कि वे वृक्षादिकों से पूछने लगे?।

और ब्रह्माजी की ओर देखा जाय तो विदित होता है कि जिस समय ब्रह्मा के समीप से राक्षस वेदों को चोरा ले गए उस समय ब्रह्मा की सर्वज्ञता कहाँ गई थी ? यदि ब्रह्मा सर्वज्ञ होते तो वेदों की चोरी कैसे होने देते ? उक्त बातों की ओर निरीक्षण करने से यही प्रतीत होता है कि ब्रह्मा-विष्णु-शिव सर्वज्ञ नहीं हो सकते किन्तु उन्हें असर्वज्ञ ही कहना होगा।

कितने महाशय यह फरमाते हैं कि "ईश्वर ने जल में अपना वीर्य छोड़ा" उसका अंडा हुआ, उस अंडे के फिर दो विभाग हुए, एक विभाग का नाम पृथिवी और दूसरे का नाम स्वर्ग पड़ा" देखिये! जगत्कर्त्ता माननेवालों की लीला, कि जब ईश्वर के वीर्य से पृथिवी आदि पदार्थ उत्पन्न हुए तव तो ईश्वर के शरीर भी होना उचित है क्योंकि विना शरीर के वीर्य नहीं हो सक्ता और जो ईश्वर का शरीर सिद्ध हो जाय तो ईश्वर को अदेह निराकार कहना झूठा हुआ यह कितना पूर्वापर विरुद्ध है। जगत्कर्ता ईश्वर मानने वालों में भी एक मत नहीं है, कोई ईश्वरवादी कहता है कि हमारा ईश्वर अवतार धारण करता है और अन्य कहता है कि ईश्वर अवतार धारण नहीं करता किन्तु विना शरीर ही सव कार्य कर सकता है। इन वातों को कहाँ तक लिखें यदि ईश्वरवादियों के मन्तव्य का परस्पर विरोध लिखने वैठें तो एक बड़ा ग्रन्थ हो जाय इसीलिए उनकी तर्कों का ही किंचित् परामर्श करना युक्त समझा गया है।

कोई ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर ही जगत् में व्याप्त होकर क्रीडा कर रहा है। और कितनेक कहते हैं कि मनुष्यों को जब उद्धार होने का मार्ग नहीं मिला इसलिये वे रोदन करने लगे तब करुणानिधान विश्वपिता उनका रोदन सुनकर एक ऋषि के हृदय में प्रकट हुए और वह ऋषि ईश्वरीय शक्ति में वलवान् होकर खड़ा हुआ और विश्ववासियों को कहने लगा, हे विश्ववासीजनों! श्रवण करो! मैंने उस अनादि पुरातन परमपुरुष को जाना है। आदित्य के समान तो उसका वर्ण है, और अज्ञानी लोग उसका स्पर्श नहीं कर सक्ते। उसके जानने से तुम

लोग मृत्यु के हाथ से छूट जाओगे, इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है। धन्य है ईश्वरवादियों की तर्कों को! कोई २ ईश्वरवादियों ने ऐसा विचार किया कि यदि हम कहेंगे कि हमारे शास्त्र ईश्वर के रचे हुए हैं तो लोग इस बात को तोड़ देंगे कि "अदेह ईश्वर ने किस मुख से शास्त्र रचे?" इस लिये यह कहना चाहिये कि ईश्वर ने ऋषियों के आत्मा में वेदों का प्रकाश किया। ईश्वरवादी यह खूब उत्तम पाठ पढ़े हैं? ईश्वर ऋषियों[1] के आत्मा में प्रकाश करे अर्थात् भूत प्रेत की तरह प्रकाश करे किंवा बोले यह ईश्वरवादियों के घर का ही न्याय है इस बात को पाठक! सोचें।

कितने लोग ब्रह्मा, विष्णु, और शिव को ईश्वरीय अवतार मानते हैं, और यह भी कहा करते हैं कि यही साक्षात् ईश्वर हैं क्योंकि ब्रह्मा जीवों की उत्पत्ति करता है, विष्णु पालन-पोषण करता है और शिव संहार करता है इसलिये संसार त्रिगुणात्मक [त्रिगुण-मय] है। अब प्रथम तो इन देवताओं के बारे में इनके ही मत के परम विद्वान् महार्षि भर्तृहरि क्या फरमा रहे हैं उसे सुनियेः—

"शंभुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां,
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय,
तस्मै नमो भगवते! कुसुमायुधाय"॥१॥

भावार्थ—जिस कामदेव ने शंभु, विष्णु, ब्रह्मा को स्त्रियों का दास बना दिया है ऐसे अगोचर चरित्र वाले कामदेव को नमस्कार हो अर्थात् मैं (भर्तृहरि) नमस्कार करता हूँ।

---

१ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ मनु० इस श्लोक का कितनेक यह अर्थ करते हैं कि परमात्मा ने सृष्टि के आदि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि, वायु, सूर्य, अंगिरा, इन चार ऋषियों के आत्मा में प्रकाश किया और उक्त ऋषियों के द्वारा वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये। परन्तु यह अर्थ इस श्लोक में से नहीं निकलता।

महाशय ! आप के जगत्कर्ता हर्ता त्रिगुणात्मक अवतारों के संवन्ध में भर्तृहरि जी का अभिप्राय तो आप को उक्तश्लोक से विदित हुआ होगा। आश्चर्य है कि जगत् के कर्ता हर्ता होकर भी जब कामदेव के वशीभूत होगए, तो जो कामी क्रोधी होगा वह दोषरहित कैसे हो सकता है ?

दैत्यों की छाती पर पग रख कर रौद्र रूप से सशस्त्र खड़े हैं ऐसे देवों को शान्त, दान्त, समाधिस्थ कौन कह सकता है ! यदि तटस्थ होकर देखा जाय तो उक्त देव सर्वज्ञ किंवा राग द्वेष रहित नहीं कहे जासक्ते । और सृष्टि के कर्ता हर्ता भी उनका मानना सर्वथा अनुचित होगा । पक्षपाती जन चाहे वेशक ! मान लें क्योंकि मानना अपने २ मन पर निर्भर है । परंतु न्यायशील मनुष्य तो न्याययुक्तही बात को स्वीकार करेगा । प्रस्तुत भारतवर्ष में अनेक धर्म दिखाई देते हैं । कोई लोगों की यह समझ है कि, वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म प्राचीन है और दूसरे सब धर्म इन दोनों से पीछे स्थापित हुए हैं और जैन धर्म बौद्धों की शाखा किंवा बौद्धों के समान होने से बौद्ध के समकालीन माना जाय तो कुछ हर्ज नहीं। इस बात में हमारी समझ से ऐसे ज्ञान रखनेवालों की पूरी भूल है क्योंकि जैनधर्म इन दोनों (वैदिक बौद्ध) धर्मों से भी बहुत प्राचीन है यह बात हम सप्रमाण प्रथम लिख आये हैं इसलिये यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है । जैनधर्म को बौद्धों की शाखा किंवा बौद्धों के समान समकालीन मानना अज्ञता का सूचक है। हाँ, शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य आदि द्वैतवादी, वेदान्ती, सांख्य,[1] पातंजल, जैमिनीय, काणाद, गौतमीय, रामानुज, वल्लभ, माध्व, गुरु नानक, कबीर, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, स्वामीनारायण इत्यादि मतों की गणना विशेष करके वैदिक मत में ही हो सकती है और उक्त पंथो को वेदों की शाखारूप किंवा वैदिक धर्म के पीछे के कहने से कोई हर्ज नहीं । यद्यपि उक्त पंथों का मन्तव्य वेदों से कुछ कुछ नहीं भी मिलता और ग्रंथ भी प्रत्येक पंथ वालों ने

१ प्राचीन सांख्य आदि कोई २ दर्शन वाले ईश्वर को नहीं भी मानते हैं

अपने अपने अलग २ बना लिये हैं, तथापि अंत में वेद, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति इत्यादि ग्रंथों के ही शरण जाते हैं इसलिये उक्त पंथों को वेदानुयायी धर्म कहा जाय तो कुछ क्षति नहीं है। क्योंकि वैदिकों ने सृष्टि का कर्ता ईश्वर को माना है और उक्त पंथ वालों ने भी सृष्टि का कर्ता ईश्वर कोही माना है परंतु सृष्टि रचना के संबंध में थोड़ा बहुत परस्पर मत भेद सभी में है। वेदों में ही जब सृष्टि रचना का एक मत नहीं है (और यह बात हम प्रथम सप्रमाण लिख भी आये हैं) तो वेदों के अनुयायी मतों में सृष्टि निर्माण का परस्पर मत भेद हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? उक्त पंथों में परस्पर कितनी ही बातों का जो मत भेद है, उस ओर हम इस समय विचार करना नहीं चाहते, बल्कि हम इस जगह इस बात की विशेष जरूरत ही नहीं समझते क्योंकि यहां पर तो हम केवल जगत्कर्ता के संबन्ध में, अथवा जगत् कर्ता मानने वाले दर्शनों के संबन्ध में उचित शब्दों से ही विचार करना योग्य समझते हैं। दूसरों पर झूठा आक्षेप करना अपनी लेखनी को कलङ्कित करना है, अपशब्द लिखने से लेखक कभी बहादुर नहीं कहा जासकता, और न हम यह पद्धति पसंद करते हैं। परंतु जब जिस बात की समालोचना की जाती है तो उस बात में (अर्थात् प्रतिपक्षी शास्त्रों में) जो जो शब्द अथवा वाक्य आयें वे यदि कारण वश हमें लेने पड़ें तो इस बात में हम सर्वथा दोषी नहीं ठहराये जासकते, क्योंकि हम अपनी ओर से लिखें तो दोषी बनें। यदि प्रतिपक्षियों के वाक्य न लेवें तो आलोचना में त्रुटि मालूम हो इसलिए यदि ऐसी सम्हाल करने पर भी पाठकों को कहीं अनुचित मालूम हो तो क्षमा करें।

जिनको सृष्टि ईश्वर रचित मानने का हठ है उनके लिये सर्वशक्तिमान् ईश्वर के संबन्ध में, और ईश्वरीय अवतारों के संबन्ध में, थोड़ा लिखना उचित समझा गया है:—

"वेदैः पुराणैः स्मृतिभिश्च येषां,
मनांसि नित्यं परिगर्वितानि।
पृच्छामि संदेहपदानि तेषां,

समीपतः शास्त्रविरोधभाञ्जि" ॥१॥

भावार्थ—वेद, पुराण, और स्मृतियों के कथनों से जिनका मन गर्वित हुआ हो उनसे ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं कि जो विचार करने के योग्य हैं।

"ब्रह्माऽपि पुत्रीमवसम्वदात्मा,
वृद्धोऽपि किं स्वां चकमे न मोहात्;
पीनस्तनीभिः सह गोपिकाभिः
लक्ष्मीपतिः सोऽपि चिरं चिखेल" ॥२॥

भावार्थ—देखिए! "ब्रह्माजी ने विकारवश होकर अपनी पुत्री की ओर कुदृष्टि से देखा"। यहां विचार करने का स्थान है कि ब्रह्माजी ऐसे सृष्टिकर्ता महर्षि को अथवा ईश्वरीय अवतार को ऐसा अयोग्य कर्तव्य करना क्या उचित था? कितने लोग इस बात को छिपाने के लिये ऐसा भी कहते हैं कि प्रजापति नाम सूर्य और सूर्य की पुत्री उषा है। वेदों में जिस जिस स्थान पर ऐसा लिखा है उस स्थान पर ऐसा समझना चाहिए कि सूर्य उषा के पीछे चलता है। हमारी ओर से वे चाहे जैसा अर्थ क्यों न करें इसमें हमारी यत्किंचित् भी क्षति नहीं है परन्तु उक्त श्लोक से क्या भावार्थ ध्वनित होता है यह पाठक समझ लें! इधर विष्णु अथवा विष्णुअवतार षोडशकलापरिपूर्ण श्रीकृष्णजी की लीलाओं की ओर देखा जाय तो गीतगोविन्दादि काव्यों में और भागवतादि पुराण ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि गोकुल ग्राम की गोपियों के अधरामृत से और उनके उतुङ्ग स्तनकलशों को आलिङ्गन करने की क्रीडा से कृष्णजी का मन हर्षित होता था। इधर शिवजी के वृत्तान्त की ओर अवलोकन करते हैं तो स्पष्ट विदित होता है कि:—

"स नीलकण्ठस्त्रिपुरस्य दाहं,
कोपाद्वितेने गगनस्थितस्य;

पूषाऽन्धकादींश्च मृधे जघान,

मुक्तिप्रदः स्यात् कतमस्त्वमीषु" ॥३॥

भावार्थ—नीलकण्ठ [शिवजी] ने क्रोध में आकर, जो राक्षसों के आकाश में तीन नगर (त्रिपुर) थे उन्हें जला दिया (भस्म कर दिया) और पूषान्धकादि दैत्यों को युद्ध में मार डाला। बतलाइए ! उपर्युक्त गुणवाले आपके त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मुक्ति पद को कैसे दे सकते हैं ? नहीं दे सकते और जगत्कर्ता भी नहीं कहे जा सकते। इसलिये आपलोग ईश्वर को जगत्कर्ता मानकर बड़ी भूल में पड़े हैं। क्योंकि जो काम, क्रोध, लोभ और मोह से युक्त हो वह किस न्याय से ईश्वर कहा-जासकता है ? कभी नहीं। देखिए आपके मत के महर्षि भर्तृहरि ने भी कर्म को प्रधान मान कर समस्त देवताओं को उसके वशीभूत माना है:—

"नमस्यामो देवान्नतु हतविधेस्तेऽपि वशगाः

विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।

फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किंच विधिना,

नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति" ॥९५॥

भावार्थ—हम इन्द्रादिक देवताओं को नमस्कार करते हैं परन्तु देवता विधि के वश हैं इस से विधि को नमस्कार करना उचित है किन्तु विधाता भी पूर्व कृत कर्म के अनुसारही फल देता है। यदि विधि स्वतन्त्र नहीं है और फल कर्म के आधीन है तो देवता और विधि से हमें क्या प्रयोजन है, इससे मैं कर्म को ही नमस्कार क्यों न करूँ क्यों कि विधाता का भी कर्म पर सामर्थ्य नहीं है॥

"ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,

विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।

रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,

सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे" १६॥

भावार्थ—जिस कर्म ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड रचने में कुम्भकार की तरह लगाया, और विष्णु को दशावतारग्रहण रूप बड़े संकट में डाला और शिव को कपाल हाथ में लेके भिक्षा माँगने में रक्खा, और सूर्य को नित्य आकाश में भ्रमाया, ऐसे कर्म को मेरा नमस्कार है ॥

उपर्युक्त दो श्लोकों में भर्तृहरि क्या कह रहे हैं ख्याल कीजिए ! कर्मों का फल देनेवाला जिसे आप मानते हैं उसको भी कर्म के आगे भर्तृहरि ने निरर्थक बतलाया। आश्चर्य है कि ऐसे परतन्त्र को सर्वशक्तिमान् ईश्वरीयावतार कहने में लोग कुछ विचार नहीं करते !

फिर भी थोड़ा हाल सुन लीजिए ! :—

"तपस्विशापान्न कथं विनष्टा,
पूर्द्वारिका यादवमण्डिताऽपि ।
हरिर्भ्रमन् काननमध्यदेशे,
बाणप्रहारान्न कथं विनष्टः" ॥१॥

भावार्थ—बड़े ही आश्चर्य की बात यह है कि कृष्णावतार विद्यमान रहते भी द्वारका पुरी तपस्वी के शाप से नष्ट हो गई अर्थात् अग्नि से जल कर भस्म हो गई। जो औरों की आपत्ति दूर करने को तो अवतार धारण करे परन्तु अपनी आपत्ति दूर न कर सके वह कैसा ईश्वर है। अन्त में द्वारका से निकल कर कृष्ण जी वन में गये, और वहाँ पर भी एक वधिक के बाण के लगने से दुःखी होकर जल के प्यासे ही उन्हें देहत्याग करना पड़ा ऐसे अल्पशक्तिमान् मनुष्यों को सर्वशक्तिमान् ईश्वरावतार कहना बड़ी खेद की बात है !

और भी थोड़ा अवतारों का हाल सुन लीजिए ! :—

"चकर्त शीर्षं स्वकरेण मातुः,
निःक्षत्रियां यः पृथिवीं चकार ।

स्नाति स्म तेषां रुधिरैस्त्रिकालं,

सोऽप्युच्यतेऽन्यैर्मधुसूदनांशः" ॥१॥

भावार्थ-परशुराम ने अपनी माताजी (रेणुका) का मस्तक अपने हाथ से छेदन किया, और क्षत्रियों को मारकर पृथिवी निःक्षत्रिया की, और उनके रुधिर से दिन में तीन तीन वार स्नान किया। ऐसे घृणाकारक कृत्य करनेवालों को सर्वशक्तिमान् ईश्वरीयावतार कहना बड़ेही दुःख की वात है क्या यह निर्दयता नहीं है ? परन्तु यह वात वैदिकों के स्वभाव ही में दाखिल हो गई है क्योंकि ये लोग हिंसा को उत्तम मानते हैं इसीलिए यागादि में ये बड़ी भारी हिंसा करते हैं। कई वैदिक यागादि में जो इस समय हिंसा नहीं करते हैं, यह जैनधर्म का ही प्रभाव समझना चाहिये और इस वात को वैदिक विद्वान् कवूल भी करते हैं।

अव थोड़ा वैदिक ऋषियों का भी हाल सुन लीजिए :—

"पराशरः कामवशान्न कन्यां,

दिवा निषेवे यमुनाजलस्थः।

व्यासस्तु बन्धोर्दयिताद्वयस्य,

वैधव्यविध्वंसकरो न जज्ञे" ॥१॥

भावार्थ—पराशर ऋषि, यमुना नदी में धीवर की कुमारी कन्या में आसक्त हो गये। क्या पराशर सरीखे नामी ऋषि को यह कार्य करना उचित था ! क्या ऋषियों को ऐसा काम करना अनुचित नहीं है ? और उनके पुत्र व्यास जी ने अपने भ्राताओं (चित्राङ्गद, चित्रवीर्य) की स्त्रियों का वैधव्य विध्वंस किया, अव जरा इस ओर ख्याल कीजिए ! क्या इन कामों को आप लोग अयोग्य नहीं कहेंगे ? विद्वान लोग तो ऐसे काम करनेवालों को वेशक वुरा ही कहेंगे !

ऐसेही ईश्वर को जगत्कर्ता—माननेवाले वैदिकलोगों के और भी ऋषियों की कथाओं की तरफ ख्याल कीजिये। इस समय भी कितनेक

वैदिक जो पुनर्लग्न (नियोग) के पक्षपाती हैं वह वेद व्यासजी की ही कृपा का फल मानना चाहिए। और जो जो वैदिक मित्रों ने पुनर्लग्न का निषेध किया है उनको शतशः धन्यवाद देना चाहिए क्यों कि वे लोक कुछ सत्यग्राही बने हैं।

पाठक! आप लोग सर्व शक्तिमान् जगत्कर्ता ईश्वर को माननेवाले महाशयों के नेताओं की आख्यायिकाओं की ओर विचार करें। हां, इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि श्री कृष्णचन्द्रजी, रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी अत्यन्त प्रभावशाली राजा हुए और नीतिमान्, श्रद्धावान् तथा आस्तिक थे, परंतु इनको सर्व शक्तिमान् ईश्वरीयावतार कहना उनके भक्तों की इच्छा पर निर्भर है, ब्रह्मा, विष्णु, शिव को सृष्टि के कर्ता, हर्ता मानना उनके अनुयायी जनों की श्रद्धामात्र है, वैदिक ऋषियों को दयावान् अथवा अहिंसा के पक्षपाती मानना उनके प्रेमियों के मन की वात है, परन्तु युक्ति तथा प्रमाण और आचरणों से प्रतीत होता है कि उपर्युक्त वातें उनमें नहीं थीं?

ईशामसीह का यहूद देश में उत्पन्न होना, और शूली पर चढ़ाकर शत्रुओं द्वारा उनका प्राण लेना यह ऐतिहासिक वात है; परंतु ईश्वर का पुत्र कहना और संसार का त्राणकारक मानना अर्थात् संसार की भलाई के लिये शूली पर चढ़ना यह ईशाई लोगों के निश्चय की बात है, परन्तु अन्य मतावलम्वी महाशय इस बात को विना प्रमाण सत्य नहीं मान सकते। इसी तरह मुसल्मान लोगों के पैगम्वर (नवी) महम्मद साहेव का मक्के में उत्पन्न होना और मदीने में परलोक (मृत्यु) होना यह भी एक ऐतिहासिक वात है, परन्तु अल्लाह के द्वारा इनके लिये आसमान से कुरान शरीफ़ की किताव का भेजना और उस किताव में लिखी वातों पर विश्वास लाना यह मुसल्मानों के ऐतकाद की वात है, परंतु सत्यग्राही बुद्धिमान् मनुष्य सत्यासत्य का विचार कर सकते हैं। ईशाई और मुसल्मानी कितावों के वारे में मैं इस जगह विशेष लिखना इसलिए ठीक नहीं समझता कि इसी ग्रन्थ के दूसरे या तीसरे भाग में इन मतों की अवश्य समीक्षा करना है और यह ग्रन्थ किसी एक धर्म को अच्छा और दूसरे को वुरा कहने

के लिये नहीं लिखा गया है, और न किसी को अच्छा बुरा कहने की हमारी इच्छा है किन्तु सृष्टि किसी की बनाई हुई है या अनादि है ? इसी बात के बारे में यहां लिखा जा रहा है । इस प्रथम भाग में विशेष करके हमारे भारत के आर्य (हिन्दू) धर्मों में से जितने जगत् कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं उन्हीं के मन्तव्यों पर विचार किया गया है और दूसरे या तीसरे विभाग में हिन्दुस्तान के बाहर के धर्मों के बारे में विचार किया जायगा ।

जिस देव की मूर्ति ही शान्त वस्तुगत्या दिखलाई नहीं देती वह किस युक्ति से सर्वशक्तिमान कहा जा सकता है ! कितनेक लोग मूर्ति को नहीं भी मानते और ईश्वर को निराकार कहकर भी उसको संसार की रचना करने का दोष देते हैं यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि निराकार से साकार पदार्थों का उत्पन्न होना किसी रीति से भी सिद्ध नहीं हो सकता !

कोई यह भी कहते हैं कि यह शरीर और इस के भीतर जो बोल रहा है यह सब पांच तत्त्वों का खेल है । अर्थात् पृथिवी से हड्डी, जल से रुधिर, अग्नि से जठराग्नि, वायु से श्वास और आकाश से शून्यता(पोलापन) हुआ है। एवं उक्त पांच तत्त्वों से ही सब संसार है अर्थात पञ्चतत्वमय ही संसार है । हम पूछते हैं कि चैतन्य उत्पन्न करने की शक्ति किस तत्त्व में है ? क्यो कि तत्त्व तो पाचों ही जड हैं फिर जड से चैतन्य की उत्पत्ति किस रीति से होसक्ती है । और यह कहना कि पञ्चभूतों के परस्पर सम्मेलन से जीव की उत्पत्ति है तो यह नितान्त असत्य है क्योंकि जैसे शुष्क वृक्ष में पत्र, पुष्प, फल लगने का संभव नहीं है तद्वत् पञ्चभूतों में चैतन्य उत्पन्न करने की शक्ति नहीं हैं । अतएव यह मन्तव्य वृथा है । कितनों का यह भी कथन है कि पंचभूतों से विश्व उत्पन्न हुआ करता है और जब महाप्रलय होने का काल (समय) आता है तब उस समय सृष्टि पञ्चभूतों में लीन हो जाया करती है और पंचभूत ईश्वर में लीन हो जाते हैं । इस मन्तव्य को स्वीकार करने वाले यह नहीं विचार करते कि पञ्चभूत का ईश्वर मे लीन होना

मानने से आप लोगों का ईश्वर जडमिश्रित होना सिद्ध होता है और जडमिश्रित होने से समल और निर्मल दोनों अवस्था प्राप्त होनी ही चाहिए। दूसरी बात यह है कि जडमिश्रित ईश्वर होने से आपका ईश्वर ज्योतिःस्वरूप निराकार नहीं हो सक्ता। और पांच भूतों से जगदुत्पत्ति मानियेगा तो पांच भूत अनादि शाश्वत पहिले सिद्ध हो चुके हैं, और अनादि सिद्ध होने से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांचो भूतों को अपने अपने धर्मानुसार स्वाभाविक कार्य करते ही रहना चाहिए फिर बतलाइये प्रलय कैसे हुआ! और किस पदार्थ का प्रलय होना आप मानते हैं? यदि इस पर कोई यह कहे कि पञ्चभूत जगत् निर्माण की क्रिया नहीं कर सकते, तो द्रव्यरूप ही नहीं हैं बलिक कथनमात्र के ही ठहरेंगे? क्योंकि पदार्थ अपना गुण (धर्म) नहीं त्याग कर सकता, यह स्वाभाविक दृढ नियम है। और जो यह मान लिया जायगा कि पांच भूत अनादि और अनंत काल से चले आये हैं इनका रचयिता कोई नहीं है तो फिर संसार भी अनादि और अनन्त काल का सिद्ध हो चुका। और जब विश्व अनादि अनन्त काल का सिद्ध हो चुका तो फिर उसकी उत्पत्ति-करनेवाला अथवा नाशकरनेवाला किसी को मानना भ्रम में पड़ना है। कई लोग ईश्वर, जीव, प्रकृति (स्वभाव-काल-दिशा) इत्यादि को अनादि कहकर फिर भी जगत् का कर्ता ईश्वर (निरञ्जन-निराकार-सर्वज्ञ-नित्य उपमावाले) को कहते हैं, क्या यह पूर्वापर विरोध से भरा वाक्य नहीं है? जब ईश्वर, जीव, प्रकृति अनादि सिद्ध हैं तो रचना ईश्वर ने किन पदार्थों की की? यदि इसके उत्तर में यह कहेंगे कि सूक्ष्म रूप में से स्थूल रूप किया, इसलिये हम ईश्वर को जगत् का कर्ता मानते हैं, तो सर्व शक्तिमान् कहाँ रहा? क्योंकि सर्व शक्तिमान् तो जब माना जाय कि जब वह नवीन भी कोई पदार्थ उत्पन्न कर सके। नवीन पदार्थ तो उत्पन्न करने की उसमें शक्तिही नहीं है तो वह एक प्रकार की शक्ति से रहित है इससे। उसका सर्व शक्तिमत्त्व धर्म नष्ट हो चुका। जगत्कर्ता मानने में कई दोष आते हैं तथापि हठी और कदाग्रही इस बात को नहीं त्यागते। अस्तु! उनके पूर्वकृत कर्मों की बात है,

परन्तु एक वार सत्यमार्ग को दिखादेना हमारा कर्तव्य है।

जगत्कर्ता-माननेवालों का कहना है कि विना ईश्वर के संसार में सब पदार्थ शून्य है, अर्थात् ईश्वर सर्व व्यापक है और ईश्वर के विना दूसरा पदार्थ ही नहीं है, यदि ऐसाही है तो दान-पुण्य करनेवाला भी ईश्वर हुआ और लेनेवाला भी ईश्वर ही हुआ? अतएव लेने देने में कुछ अन्तरही नहीं रहा? ईश्वर ने अपना दान आपही ले लिया! फिर अमुक व्यक्ति ने दिया और अमुक ने लिया, और देनेवाले को वहुत पुण्य हुआ इत्यादि कहनाही असत्य ठहरेगा? इससे तो दान पुण्य करनाही वृथा हुआ। ऐसेही मारनेवाला भी ईश्वर है और मरनेवाला भी ईश्वर है अतः ईश्वर ने ईश्वर को मारा! इसमें किसी का कोई भी शत्रु मित्र न रहा क्योंकि दोनों में व्यापक ईश्वर है। एवं द्रव्य का स्वामी भी ईश्वर है और उस द्रव्य का चोरानेवाला भी ईश्वर है इससे तो अपना द्रव्य आपनेंही चोराया! दूसरे को चोर कहने से क्या गरज? क्यों कि जो ईश्वर द्रव्यवाले पुरुष में व्यापक है वही चोर में भी तो व्यापक है। तथा स्वर्ग में भी ईश्वर है और नरक में भी ईश्वर है इससे स्वर्ग के सुखों का भी आनन्द ईश्वर को होना और नरक के रौरव दुःख की वेदना भी उसकोही होना मानना चाहिए! पुण्यवान् स्वर्ग जाता है और पापी नरक जाता है यह कहना भी झूठा होगा। परन्तु स्मरण रहै कि आपका मन्तव्य उपर्युक्त दृष्टान्तों से असत्य हो चुका। घट घट में (पुद्गल पुद्गल में-शरीर-शरीर में) जीव अलग अलग है और उनके कर्म भी पृथक् पृथक् हैं। जो लोग सारे संसार में ईश्वर को व्यापक कहते हैं उनकी पूरी भूल है। इतने पर भी जिनको इस वात की हठ हो उनसे हम पूछते हैं कि यदि एक ईश्वर सर्व व्यापक है तो चंडाल, राजा, आदिकों को उच्च, नीच कहने से क्या गरज? एक पुण्य करे तो उसका फल सारे संसार को क्यों नहीं मिलता? एक के नरक भागी होने से सारा संसार हीं नरक का भागी क्यों नहीं होता? एक श्रीमान् होने से सारी सृष्टि श्रीमान् क्यों नहीं होती? और एक भिक्षुक होने से सारी सृष्टि भिक्षुक क्यों नहीं हो जाती किन्तु उक्त वातें तो नहीं होतीं, फिर सब पदार्थों में एकही परमात्मा व्यापक हम

किस न्याय से मानें ? इससे सिद्ध हुआ कि एक आत्मा सर्वव्यापक नहीं है।

जो जो सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को कहते हैं उनको स्मरण रहे कि यदि सृष्टि ईश्वर की रची हुई है तो जितने जगन्नियन्ता ईश्वर की भक्ति करते हैं उन सब को और जो जो ईश्वर को जगत्कर्त्ता स्वीकार करते हैं उनको भी सुखी रखना जगन्नियन्ता को उचित है ! परन्तु जगन्नियन्ता को माननेवाले बहुत से लोग महान् दुःखी भी दिखलाई पड़ते हैं। जगन्नियन्ता ईश्वर को उचित था कि जो जो लोग जगत्कर्ता को नहीं मानते हैं उनके संमुख आकर स्पष्ट कहते कि सृष्टि का कर्ता हर्ता मैं हूँ ! तुम सृष्टिकर्ता को नहीं मानते इस लिए मैं तुम्हारे समीप आया हूँ ! ऐसा क्यों नहीं किया ? क्या इस काम को करने की उसमें शक्ति नहीं थी ? क्या सर्व शक्तिमान् में हम लोगों को समझाने की सामर्थ्य नहीं है ? क्या वृथा ही सर्व शक्तिमान् कहलाने का दावा रखता है ? क्या सृष्टि उत्पन्न करते समय यह नहीं सोचा था कि ये मेरे को जगत्कर्ता नहीं माननेवाले मेरा खण्डन करेंगे इसलिए इनको न बनाऊँ ? जब संसार का कर्ता कोई है ही नहीं तो उपर्युक्त बातें कहाँ से हों। ईश्वर को जगत्कर्ता मानना ही भ्रम है। इस समय भी सृष्टि को अकर्तृ-जन्य अनादि अनन्त मानने वालों की संख्या कुछ कम नहीं है। जैन, बौद्ध, और प्राचीन सांख्यकार इत्यादि सृष्टि के कर्ता को नहीं मानते, तो इन धर्मावलम्बियों को आपके ईश्वर ने क्यों रचा ? इसका उत्तर दीजिये। जगत् का कर्ता माननेवाले जब अपना पक्ष निर्बल देखते हैं तब यह भी कहने को तैयार हो जाते हैं कि हम ईश्वर से निर्माण किये गये हैं परन्तु जैसा हमारा शुभाशुभ कर्म होगा वैसाही हमको फल ईश्वर द्वारा प्राप्त होगा। देखिए पाठक ! प्रथम तो एक ईश्वर कोही पकड़ कर बैठे थे परन्तु फिर दूसरे की तर्कताप से बचने के लिये कर्म की ओर झुके, कर्मों का फल ईश्वरद्वारा प्राप्त होना मानने में न मालूम ईश्वरवादियों को क्या लाभ होता है ? जब ईश्वर अपनी ओर से कुछ नहीं दे सकता तो फिर कर्ता हर्ता वह किस न्याय से सिद्ध हो सक्ता है। यदि केवल ऐसाही मान लिया जाय कि सुख, दुःख स्वस्वकर्मानुसार प्राप्त

होते हैं और कर्ता भोक्ता ईश्वर नहीं है किन्तु स्वतः जीव ही है और इसमें ईश्वर से कुछ सम्बन्ध नहीं है तो विवाद करने का कारणही नहीं रहता। व्यर्थ ईश्वर को कर्ता, हर्ता, सर्वव्यापक आदि कहकर संसारी दुःखों में विभक्त होने का कलङ्क देना बुद्धिमानों का काम नहीं है। क्योंकि ईश्वर अनादि अनन्त सुखों को छोड़कर सांसारिक दुःखों में विभक्त क्यों होगा ?

कई लोगों का यह मन्तव्य है कि सृष्टि ईश्वर की रचित होने से सब पदार्थों में ईश्वरीय कला है। यदि यह बात सत्य हो तो विद्वान् और मूर्ख में भेद क्यों माना जाता है? क्या विद्वानों में ही ईश्वरीय कला है और मूर्खों में नहीं है ? ऐसा हो नहीं सकता। जब सभी में ईश्वरीय कला है तो नाना प्रकार की विचित्र रचना संसार में क्यों है ? मनुष्य, घंट पटादि पदार्थ को बना सक्ता है और श्वान, रासभ, शूकर, मार्जार, व्याघ्रादि पशु प्राणी, घट पटादि पदार्थ नहीं बना सकते, यह बात सब कोई जानते हैं। क्या पशुओं में ईश्वरीय कला नहीं है ? आप इन पशुओं को कलाहीन कहेंगे, या कला साहित ? आपका तो यह मन्तव्य है कि सब पदार्थों में ईश्वरीय कला है फिर पशु मूर्खादि अनेक कार्य करने में और विचारशक्ति में हीन क्यों हैं ? यदि यह कहा जाय कि सब में समान कला नहीं है किन्तु न्यूनाधिक है तो आपका ईश्वर अन्यायी ठहरा ! एक को विशेष कला देना और दूसरे को न्यून देना यह पक्षपात हुआ या नहीं ? क्या ईश्वर का भी कोई शत्रु मित्र है? या उसको किसी की ओर से लाभ या हानि होने का संभव है? कि जिससे किसीको न्यून और किसीको अधिक कलाएँ देनी पड़ीं ! यदि उसके शत्रु मित्र नहीं हैं तो यह अन्याय हुआ या नहीं ? हमारी समझ से तो पदार्थों में ऐश्वरीय कलाएँ मानना अनुचित है।

कितनेक कहते हैं कि जगन्नियन्ता प्रभु भक्तवत्सल है और स्वेच्छा से अवतार (जन्म) धारण करता है। यदि ईश्वर भक्तवत्सल है तो भक्तजन ज्वर ताप, आधी व्याधी, जन्म जरा मृत्यु वगैरह अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखी क्यों दीखते हैं ? यदि भक्तवत्सल हो तो अपने भक्तों को बड़े बड़े कष्ट क्यों पाने देता है ? असंख्यात

भक्त सज्जन; संवन्धी कुटुम्ब परिवार को दुःखी त्यागकर परलोक चले जाते हैं। यदि आपका प्रभु **भक्तवत्सल** होता तो भक्तों को और भक्तों के परिवार को क्यों दुःखी होने देता? क्या भक्तों की आयु अधिक कर देने की शक्ति सर्वशक्तिमान्-भक्तवत्सल ईश्वर में नहीं है? यदि है तो दुःखी क्यों? इससे यही प्रतीत होता है कि आपका ईश्वर भक्त-वत्सल नहीं है। जव जगत् का कर्ताही ईश्वर सिद्ध नहीं होसक्ता तो फिर दूसरी वातें कहाँ से सिद्ध हो सकेंगी।

ईश्वर को जगत् का कर्ता माननेवालों की यह भी समझ है कि सव पदार्थों का **अधिष्ठान** ईश्वर है, और ईश्वरीय इच्छा से सव **कृत्याकृत्य** होते हैं तो घट पट क्यों नहीं होजाता! जैसे घट का कारण मृत्तिका-पिंड है इसलिये मृत्तिकापिंड से घटोत्पत्ति होती है परंतु मृत्तिकापिंड से पटादिक कार्य नहीं होसकते। वैसे ही पट का कारण तन्तु है इससे पटोत्पत्ति होती है परंतु तन्तु से घटादि पदार्थ कभी नहीं वन सकते। यदि आप इसवात को स्वीकार नहीं करेंगे तो **कारण से कार्योत्पत्ति** होना मिथ्या कह देना चाहिए! यदि आपको जगन्नियन्ता ईश्वर पर इतना पक्षपात है तो आपका अधिष्ठान ईश्वर, घट को पट और पट को घट क्यों नहीं करादिया करता? जो लोग ईश्वर को जगत् का कारण-**अधिष्ठान** वतलाते हैं वह उनकी भूल है। जगत् का कारण ईश्वर किसी युक्ति या प्रमाण से सिद्ध नहीं होसक्ता। अतएव सिद्ध हुआ कि ईश्वर अधिष्ठान नहीं है और ईश्वरीय इच्छा से कृत्याकृत्य मानना युक्ति या प्रमाण से नहीं सिद्ध होता।

सृष्टि को ईश्वररचित माननेवाले यह भी मानते हैं कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओ से वैश्य और पावों से **शूद्र** उत्पन्न हुए। मुख भुजा जंघाओं से उत्पन्न होने के कारण इन तीनों की द्विज संज्ञा है और शूद्र पावों से उत्पन्न हुआ इस से द्विज नहीं है। अर्थात् शूद्र नीची जाति की संज्ञा है। देखिए! महाशय! यह कैसा पूर्वापर विरुद्ध है! एक जगह कहना कि ईश्वर ने सभी पदार्थ की रचना की है और दूसरी जगह कहना कि ब्रह्माजी ने ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य

और शूद्र को रचा। यदि तर्कताप से बचने के लिए ऐसा कहें कि ब्रह्मा कहने से ईश्वर ही को यहाँ लेना चाहिये; हम ईश्वर को ब्रह्मा भी कहते हैं तो क्या निराकार ईश्वर के भी हाथ पाँव मुख आदिक होते हैं ? यदि होते हैं तो उसको निराकार कहना मिथ्या है। निराकार का अर्थ आकाररहित होता है किन्तु हाथ पाँववाला कभी निराकार नहीं कहा जासकता। ब्रह्माजी ने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र को मुख-भुजा-जंघा और पावों से उत्पन्न किया इस कारण ये उत्तम-मध्यम-जघन्य जाति कही जाती हैं ऐसा वैदिक मानते हैं और इसीसे वैदिक लोग ब्राह्मणों को सर्वोच्च मानते हैं। क्षत्रिय उससे कम और वैश्य उससे कम और शूद्र को सबसे नीचे की पंक्ति में गिना है यहां विचार करने का स्थान है कि कर्ता ने ब्राह्मणादि वर्णों के शरीर के चिन्ह (अवयव) ही अलग अलग क्यों नहीं करादिये ? कि जिससे गुण—कर्म—स्वभाव की परीक्षा करने का भी कोई कारण नहीं रहता। क्या सृष्टिकर्ता को वर्णाश्रमों में शारीरक चिन्ह करदेने की कठनाई पड़ती थी ? और दूसरी बात यह है कि गुण-कर्म-स्वभाव—से वर्णाश्रमों की व्यवस्था लगाने से बहुत कुछ विवाद उपस्थित होने का स्थान है। जैसा कि एक मनुष्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ और उसके गुण-कर्म-स्वभाव शूद्र के हैं और दूसरा शूद्रकुल में उत्पन्न हुआ और गुण कर्म स्वभाव ब्राह्मण के हैं, फिर बतलाइये किसको ब्राह्मण कहना और किसको शूद्र। क्योंकि ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए मनुष्य को शूद्र कहेंगे तो उसका विवाहादि सब व्यवहार शूद्रजाति में ही होना चाहिए ? और शूद्रजाति में उत्पन्न हुए मनुष्य को गुण—कर्म—स्वभाव से ब्राह्मण कहेंगे तो उसका विवाह आदि सब व्यवहार ब्राह्मणजाति में ही होना चाहिए ? और यदि ऐसा होना सब मान लें तो वर्णव्यवस्था कदापि ठीक नहीं रह सक्ती। इस बात को कितनेक वैदिक मानते हैं और कितनेक निषेध भी करते हैं। जो लोग ब्रह्माजी के मुख-भुजा-जंघा और पांवों से चारो वर्णों की उत्पत्ति मानते हैं उन्हीको विचार करना चाहिए कि ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न होनेवाले

ब्राह्मण माताद्वारा जन्म लेते हैं यह क्यों ? उनकेलिये ब्रह्माजी को अवश्य ऐसा प्रबंध करदेना था कि वे गुह्यस्थानद्वारा जन्म न लेते ! यदि मुख-द्वारा जन्म धारण करते तो अवश्य हम मानते कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से है परंतु यह बात तो है नहीं सभी वर्ण माता के उदर में से ही जन्म धारण करते हैं इससे यह स्पष्ट है कि चारो वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुखादि स्थानों से मानना भ्रम है ।

कई ऐसा भी कहते हैं कि ईश्वर पृथ्वी का भार उतारने के लिये अवतार लेकर असुर पापी जनों का संहार करता है और देवों की रक्षा करता है । हम पूछते हैं कि ईश्वर ने असुर-पापी जनों को उत्पन्नही किस लिये किया ! प्रथम उत्पन्न ही नहीं करता तो पृथ्वी के ऊपर भार होने का कोई कारणही नहीं था और अवतार धारणकर मृत्युलोक में आने का परिश्रम भी नहीं उठाना पड़ता । तथा मत्स्य-कच्छ-वाराह-नृसिंह आदि तिर्यक् योनी में भी जन्म नहीं धारण करना पड़ता। आश्चर्य है कि आपका ईश्वर सुख को छोड़ स्वतः दुःख में आने का उपाय करता है अर्थात् पशुओं का भी रूप धारण करता है। दूसरी बात यह है कि देवताओं की रक्षा करना और असुर याने राक्षसों का संहार करना इससे आपके ईश्वर में राग द्वेष का होना सिद्ध होता है और राग-द्वेषी को ईश्वर कहना सर्वथा अयुक्त है । क्योंकि राग-द्वेष ईश्वर के लिए दूषण है और ईश्वर को हमेशा निर्दूषण होना चाहिए । दूसरी बात यह है कि आपलोग तो यह मानते हैं कि ईश्वरीय विभूति विना संसार में कोई पदार्थही नहीं है इससे तो देव तथा दानव दोनों में भी ईश्वरीयाविभूति होनीही चाहिए । तथा राक्षसों में ईश्वरीयविभूति यदि आप मानेंगे तो ईश्वर ने स्वतः अपनी विभूति का नाश (संहार) किया और यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो "ईश्वरीयविभूति विना संसार में कोई पदार्थ नहीं है" यह कहना असत्य हुआ ! धन्य है ईश्वरवादी जी आपके तर्कों को ।

कोई यह भी कहते हैं कि ईश्वर ने पुतला रचकर स्त्री के उदर में रखदिया। परन्तु हमारी समझ से यह बात तो नितान्त असत्य है क्योंकि

सब जीवों के शरीर की रचना अपने २ पूर्वकर्मानुवन्ध के अनुसार ही होती है। इस बात को जो न माने उससे हम पूछते हैं कि एक श्रीमान्, और दूसरा दीन, एक राजा, और दूसरा रंक, एक रूपवान्, और दूसरा कुरूप, एक ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी, एक पंडित और दूसरा मूर्ख, ऐसी विचित्र रचना जगत् की क्यों दीख रही है? क्या किसी ने ईश्वर का भला बुरा किया था?। इससे सिद्ध हुआ कि जैसा २ जीवों का पूर्वकृत कर्मों का बन्ध होता है वैसा २ रूप-रंग-आकृति-सुख-दुःख-ज्ञान-अज्ञान प्राप्त हुआ करता है। जगत्कर्त्ता मानने वाले निर्दूषण-निराकार परमात्मा को रागी-द्वेषी बनाकर कुम्भकार के समान संसारी जीवों के शरीरों (पुद्गल) को रातदिन अर्थात् बराबर रचने का कलंक (दोष) निरर्थक देते हैं। ईश्वरवादी रागादि के वश से हठ नहीं त्याग करते, तो उनको उचित है कि इस बात को जरा शोचें कि ईश्वर ने जब जीवों को रचा उस समय निर्मल रचा या मलीन? यदि निर्मल रचा कहियेगा तो धर्मशास्त्र (श्रुति-स्मृति-कुरान-बाइबिल वगैरह जगत् कर्ता मानने वालों के आप्तग्रन्थ) किसको पवित्र (निर्मल) करने को रचे गये? क्योंकि पवित्र शास्त्र तो मलीन को पवित्र करता है। जब जीवों को आदि से ही निर्मल रचा फिर मलीन होने का क्या कारण हुआ?। एवं बुद्धि ईश्वरदत्त मानने से जीवों ने मलीनता स्वतः ली यह भी नहीं कह सकते और ईश्वर ने दी यह भी कहना अयुक्त है क्योंकि ईश्वर क्या जीवों को मलीन होने की दुर्बुद्धि देता है? यदि कहा जाय कि परमेश्वर ने जीवों को मलीन ही रचा था तो क्या जीवों के पाप किये विना ही पापरूप मलीनता लगा दी? यदि कहोगे हां, तो ऐसे अन्यायी को कौन बुद्धिमान् ईश्वर कह सक्ता है। यदि कहाजाय, कि ईश्वर स्वेच्छा से सब जीवों को सुख दुःख देता है तो मैं पूछता हूं कि इच्छा ईश्वर से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो ईश्वर की इच्छा ही नहीं कह सकते, क्योंकि भिन्न होने से ईश्वर से कुछ संबन्ध नहीं है। यदि कहा जाय अभिन्न है अर्थात् ईश्वर में है तो क्षण भर में उत्पन्न होना और क्षण भर में विनाश होना, यह

नित्य परमेश्वर में व्यापक इच्छा का विरोध आता है । इससे कह सक्ते हैं कि उपर्युक्त बात युक्तियुक्त नहीं मालूम होती।

कई ऐसा भी मानते हैं कि– ईश्वर वायु चलाता है, मेघ वर्षाता है, और जो कुछ होता जाता है, वह सब ईश्वर ही करता है उसकी शक्ति अगाध है, इसके उत्तर में हम पूछते हैं कि ईश्वर को ऐसे कार्य करने में क्या कुछ लाभ है ? कि जो इतना अगाध परिश्रम करता रहता है। यदि कहोगे कि लाभ है; तो क्या अभीतक असली स्वरूप में कुछ न्यूनता रहगई है ! कि जो परिश्रम करके मिलाना चाहता है ? । यदि कहोगे कि ईश्वर को कुछ मिलाना नहीं है तो विचार करने का स्थान है कि फिर उसके समान दूसरा अज्ञानी ही कौन है कि जो विनाही कुछ लाभ के इतना निरर्थक श्रम करता रहता है।

कई कहते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि इस वास्ते रची है कि इस विचित्र रचना को देख जीव मेरे पर विश्वास लावें। देखिए-महाशय ! यह कैसी तर्क है! । संसारी जीवों को विश्वास कराने की अभिलाषा ईश्वर को क्यों हुई? क्या संसारी जीवों से किसी प्रकार का ईश्वर को व्यापार (रोजगार) करना था ? कि जिससे प्रथमही यह वन्दोवस्त करलिया कि मेरा विश्वास होगा तो मेरी हुंडी-पत्री संसार में चलेगी। क्या आपका जगन्नियन्ता प्रभु इतना लालची है ? जो संसारी जीव आपके ईश्वरपर विश्वास न रक्खें तो क्या इसमें ईश्वर की कुछ हानि है ? यदि कहोगे कि न तो लाभ है और न हानि है तो फिर सृष्टि को विश्वास लाने के लिये संसार रचना करने का परिश्रम उठाने का क्या प्रयोजन हुआ ! अतएव जगत् ईश्वरकृत सिद्ध नहीं होता । आश्चर्य है कि ईश्वरवादी ऐसी ऐसी कमजोर तर्क करते हुए कुछ विचार ही नही करते हैं !

जगत् का कर्ता ईश्वर को माननेवाले जैसा मन्तव्य जगत्कर्तृत्व के संवन्ध में रखते हैं वैसाही आश्चर्यजनक मन्तव्य मुक्ति के भी संबन्ध में रखते हैं। संसारी जीवों के लिए अन्तिम साध्य मुक्ति है। जितनी क्रिया जीव धार्मिक बुद्धि से करता है वह संसार से मुक्त होकर आध्यात्मिक

सुख की प्राप्ति के लिए करता है। इससे इस स्थानपर मुक्ति के बारे में भी थोड़ा लिखना अप्रासंगिक और अरोचक न होगा। सृष्टि का कर्ता माननेवाले कई सज्जन तो जैसा ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं वैसा मुक्ति का भी स्थान किसी भी एक जगह निश्चित नहीं मानते। उनका कहना है कि मुक्तात्मा संकल्पमय शरीर होकर ब्रह्म में विचरा करते हैं। क्या मालूम इस मन्तव्य को स्वीकार करनेवालों के ब्रह्म का कौनसा स्थान है! हमारी समझ से तो मुक्ति का स्थान अनियत मानने से मुक्त आत्मा का पवित्र और अपवित्र स्थानों में भी विचरना इन लोगों को मानना चाहिए! क्योंकि स्थानही जब नियत नहीं है तो अपवित्र स्थान में मुक्तात्मा जावे इस में आश्चर्यही क्या है? ऐसी मुक्ति उनका ईश्वर उन्हीं को दे। मुक्तजीव स्थूल शरीर त्यागकर संकल्पमय शरीर से आकाश द्वारा परमेश्वर में विचरते हैं और ब्रह्म में आनन्द, नियत समय तक भोगते हैं कि पुनः महाकल्प के पश्चात् संसार में आते हैं अर्थात् [1]परांत काल तक मुक्तिं में रहते हैं फिर मुक्त आत्मा पीछे संसार में लौट आते हैं। वाह! ईश्वरवादीजी!! आपकी मुक्ति भी खूब है! मुक्त आत्मा को पीछे संसार में लौट आने का कारण क्या है? क्या मुक्तात्मा जीव मुक्ति से नाराज होकर स्वतः चले आते हैं या आपका सर्वशक्तिमान् ईश्वर उनको मुक्ति में से धक्का देकर गिरा देता है? यदि स्वतः संसार में आना कहोगे तो यह बतलाना होगा कि आध्यात्मिक सुख को छोड़ सांसारिक दुःखों में क्यों आते हैं? यदि कहोगे कि परमेश्वर उनको आज्ञा देता है तो फरमाइये उनको सुख से दुःख में लाने का क्या कारण हुआ? देखिये यह कैसी विचित्र मुक्ति है! जैसे किसी स्त्री का श्वशुरगृह और मातृगृह। मन की इच्छा हुई जब स्त्री सासर चली जाती है और मन की इच्छा होती है जब पीहर चली आया करती है ऐसी आप लोगों की मुक्ति है।

---

१ तैंतालिस लाख, बीस हज्जार वर्षों की एक चतुर्युगी, दो हज्जार चतुर्युगी का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्र का एक महीना, ऐसे बारह महीने का एक वर्ष ऐसे सौ वर्षों का परान्त काल होता है। ऐसा सत्यार्थप्रकाश के नवमं समुल्लास में लिखा है। कहीं ऐसा भी माना गया है कि इकतीस निखर्व, दश खर्व, चालीस अर्ववर्षों का एक परान्त काल होता है।

कईलोग मुक्ति पांच प्रकार की मानते हैं—१सालोक्य-२-सामीप्य-३-सायुज्य-४सार्ष्टि-५एकत्व। किन्तु यहभी ठीक नहीं है; अब हम मुक्ति का सच्चा स्वरूप लिखते हैं, पढिए!:—

(स्रग्धरावृत्तम्)

नात्यन्ताभावरूपा, नच जडिममयी, व्योमवद्व्यापिनी नो,
न व्यावृत्तिं दधाना विषयसुखघना नेक्ष्यते सर्वविद्भिः।
सद्रूपाऽऽत्मप्रसादा दृगवगमगुणौघा न संसारसारा,
निःसीमाऽत्यक्षसौख्योदयवसतिरनिष्पातिनी मुक्तिरुक्ता १

भावार्थ— बौद्धों की मानी हुई अत्यन्ताभाव स्वरूपवाली मुक्ति नहीं है, नैयायिक और वैशेषिकों की मानी हुई जडस्वरूपवाली भी मुक्ति नहीं है, आजीवक और आर्यसमाजियों की मानी हुई आकाश की तरह व्यापक और अन्य से व्यावर्तन स्वभाव को धारण करने वाली भी मुक्ति नहीं है, यवनों की मानी हुई विषय सुख से व्याप्त भी मुक्ति नहीं है, किन्तु सर्वज्ञों ने इससे विपरीत अर्थात् भावस्वरूप वाली आत्मा की प्रसन्नतावाली ज्ञान दर्शनादि अनेकगुण समूह वाली सांसारिक सुखों से रहित और निःसीम अतीन्द्रिय सुखवाली उदय का स्थान और फिर जिससे पतन नहीं (नित्य) है ऐसी मुक्ति है। मुक्त हुए बाद लोकाग्र भाग में अशरीरी होकर "जलतुम्बिका न्यायेन" स्थिर रहना माना है, आत्मा का मुक्तहुए बाद पुनः संसार में लौट आना मानना अयुक्त है। लोकाग्र भाग में आध्यात्मिक सुखों में मग्न रहना मानना युक्त है। पाठकवर्ग! विचार करें, कि मुक्ति का स्वरूप कौन सा युक्त है और कौन सा अयुक्त? मुक्ति के संबन्ध में

---

१ विष्णुलोक में जाके रहना। २ ईश्वर के नजदीक जाके बैठना। ३ ईश्वर में युक्त होजाना अथवा ईश्वर से परस्पर मिलजाना। ४ ईश्वर के समान ऐश्वर्यवान् होजाना। ५ ईश्वर के रूप में मिलजाना अथवा एक होजाना।

यहाँ पर इससे विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं मालूम होती, अवसर मिला तो फिर किसी स्थानपर इस विषय की मीमांसा की जायगी। ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवालों ने सृष्टि की तरह मुक्ति के बारे में जो २ कल्पनाएँ की हैं उसका यह नमूना है:—

कई लोक यह दलील करते हैं कि:—"शंकराचार्य ऐसे विद्वानों का यह मत है कि सब संसार ब्रह्मरूप है और नाना प्रकार का जो प्रपञ्च दिखाई देता है वह सब मायाजन्य है। इसीलिए द्वैत मानना ठीक नहीं, अर्थात् अद्वैत है। जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्मही है। जगत् सत्य अपनेको भास होता है इसका कारण माया है और माया का स्वरूप अनिर्वाच्य है। माया को "सत्" याने, 'है' भी नहीं कह सकते, अथवा "असत्" याने 'नहीं' भी नहीं कह सकते हैं। है ऐसा कहें तो माया परमार्थ दृष्टि से भ्रमात्मक है, नहीं ऐसा कहें तो व्यवहार दृष्टि से माया सत्य है। शंकरस्वामी के मत से जीव और परमात्मा दो नहीं हैं अर्थात् एकही है" इस पर श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यजी महाराज का जो कथन है वह सुनिए :—

"माया सती चेत् द्वयतत्त्वसिद्धि-
रथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः ?।
मायैव चेदर्थसहा च तत् किम्,
माता च वन्ध्या च भवेत् परेषाम्"॥ १॥

भावार्थ-यदि माया सत् रूप है तो दो तत्त्व की सिद्धि हुई—एक ब्रह्म और द्वितीया माया (इससे तो ब्रह्माद्वैतवाद के मूलमेंही कुठार मारना हुआ) यदि असत् रूप है तो आकाशपुष्पवत् अवस्तु रूपहोने से नाना प्रकार के प्रपञ्च को मायाजनित कहना किस रीति से संभव हो सकता है अर्थात् असंभव है। जिसको माता कहना और उसीको वन्ध्या

---

१ अविद्या.

भी कहना, यह किस युक्ति से सिद्ध होसक्ता है ? यदि माताही है तो वन्ध्या कैसे हो सकती है और यदि वन्ध्याही है तो माता कहना अयुक्त है। ब्रह्माद्वैतवादी जी ! आपके वचनों में यह प्रत्यक्ष विरोध आया या नहीं ? और जब आपके मत से जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्मही है तो फिर माया को व्यवहारदृष्टि से सत् और पारमार्थिक दृष्टि से असत् कहना यह दूसरों की तर्कताप से बचने का उपाय है या नहीं ? किन्तु इस वाग्जाल को, समझनेवाले तुरन्त समझ सकते हैं। जब जीव और ईश्वर दो नहीं हैं तो अविद्या (माया) के भ्रम में जीव क्यों फसते हैं। क्या जीव ईश्वर होकर भी माया से वंचित नहीं रहता ? **शंकरस्वामी मंडनमिश्र की स्त्री से कामचर्चा में हार गये थे** इससे तो वे स्वतः माया के फांस में फसे सिद्ध होते हैं। आपलोग जिस शंकराचार्य को सर्वज्ञ मानते हैं जब वेही माया के फांस में फसे तो उनके रचे शास्त्र अमायिक कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते। अत एव वेदान्तियों का ब्रह्माद्वैतवाद युक्तिविकलही ठहरा। जब जीव और परमात्मा में भेद नहीं है तो फिर व्यवहार दृष्टि से माया सत् और परमार्थ दृष्टि से असत् कहना अयुक्त है। भला कहीं ब्रह्म अर्थात् परमात्मास्वरूप जीव के भी दो दृष्टि होती हैं ? धन्य है आपकी प्रतिभा को !

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की भूमिका में लिखा है कि—"दर्शनकारों के परस्पर विरोध के मूलभूत भगवान् भाष्यकार भगवत्पाद श्री १०८ शंकराचार्यही हैं। इनसे प्रथम, सांख्य योगादि उत्तम सिद्धान्तों के निराकरण करने में किसी आस्तिक विद्वान् का साहस न हुआ था किन्तु सांख्यसिद्धान्तों के सहित उसके कर्त्ता को अप्रामाणिक ठहराने में तथा गौतम, कणाद को वैनाशिकतुल्य बतलाकर उनके सिद्धान्तों को धूली में मिलाने में एवं धर्ममीमांसा के मूलोच्छेदन में यह प्रथम २ भगवती भगवत्पादही की लेखनी प्रवृत्त हुई है" **आगे फिर लिखा है कि**—

१ बंबई में क्षेमराज श्रीकृष्णदासजी के वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस में छपी है।

"बिचारे कापिल को लथेड़ना आरम्भ किया और यहांतक लथेड़ा कि श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्य सर्वज्ञ कपिलदेव वासुदेवांश रूप में जो अवतीर्ण हुए थे वे और ही हैं और यह द्वैतवादी सांख्य शास्त्र का कर्ता कोई अवैदिक कपिल है इत्यादि सभी कुछ कहा।" आगे फिर लिखा है कि—"कपिल, कणाद, गौतम, पतञ्जलि, तथा जैमिनि ये पांचो दर्शनकार तो नानात्मवादी होने से अवैदिकही हैं। शेष रहे व्यासदेव सो इनका भी योगसूत्रों के भाष्य में तो नाना चिदात्मवादही सिद्धान्त है इन को भी चाहे आप वैदिक माने या अवैदिक"। आगे फिर लिखा है कि—"अब हमको यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि कपिलादि षट् महर्षि अवैदिक हैं या एक भगवत्पाद श्री १०८ शंकरस्वामीही अवैदिक हैं? परस्पर विरुद्ध लेख है इसलिये दोनों में एक कोटी अवश्य निर्बल होनी चाहिये। 'कौन होनी चाहिये?' इसको विद्वान लोग स्वयं सोचें"। फिर आगे लिखा है कि—"गौतम और कणाद के सिद्धान्त पर जो आपने मिथ्या आक्षेप किया है वह हमको सर्वथा असह्य है।" उसके आगे लिखा है कि—"शंकर स्वामी ने सांख्यादि सर्व दर्शनों से विरुद्ध एक अपनी ढाईपाव जुदाही पकाई है"। इत्यादि बहुत कुछ परामर्श किया है। जिसको देखना हो वह न्याय सिद्धान्त मुक्तावली की भूमिका देखले। कईलोक कहते हैं कि 'शंकर स्वामी ने जैन मत का मूल उखाड़ा और वैदिक धर्म की पुनः स्थापना की, इस पर हमारा यह उत्तर पर्याप्त है कि उपर्य्युक्त भूमिका के लेखक ने शंकर स्वामी को 'अवैदिक थे' ऐसा स्पष्ट लिखा है फिर उन्हींको वैदिक हम किस आधार से कह सकते हैं, और जब अपने पूर्वज कपिलादि महर्षियों की निन्दा करते जिनको विचार न हुआ तब वे दूसरों को यदि भला बुरा कहें तो इसमें आश्चर्यही क्या? परन्तु ऐसे कहने से क्या होसकता है। शंकर स्वामी की क्या शक्ति थी कि वे जैन धर्म को मूल से उखाड़ सके हों। जैनदर्शन अविच्छिन्न रूपसे आजतक चला आया है और आजभी जैन दर्शन के अनेक शास्त्र विद्यमान हैं इससे ऐसा कहनेवाले प्रत्यक्ष ही झूठे ठहरते हैं। घर में बैठकर अपने हाथ से अपनी रचित

पुस्तकों में कोई चाहे जैसा क्यों न लिखे क्योंकि लेखनी अपने हाथ की होती है। वेदव्यास जी के और शंकर स्वामी के लेखोंपर चाहे उनके मतानुयायी विश्वास रक्खें, किन्तु अन्य नहीं रख सकते। विचारने का स्थान है कि कई वैदिकों ने भी आपको अवैदिक बतलाया है और अद्वैतवाद पर कटाक्ष किया है। यह बात पाठक उपर्युक्त लेख से भली भाँति समझ सकते हैं। आनन्दगिरि कृत शंकरदिग्विजय और माधवकृत शंकरदिग्विजय में जैनमत के खण्डन में जो जैन साधुओं के उपकरण और जैन साधुओं से वादानुवाद लिखे हैं वह नितान्त झूठ और कल्पित हैं क्योंकि जैनशास्त्रों में जो बातें नहीं हैं वैसी कल्पित बातें प्रश्नोत्तर रूप में लिखकर जैनधर्म को खण्डन करना समझलिया है परन्तु ऐसा करने से क्या होसकता है? जिसको इस बात के संबन्ध में सत्यासत्य का निर्णय करना हो वह जैनशास्त्र और शंकर दिग्विजय यह दोनों को मिलाकर देखे तो मालूम होजायगा। व्यासजी से और शंकर स्वामी से स्याद्वाद न्याय का खंडन न होसका, क्योंकि दो चार शब्द या वाक्य अपने रचे पुस्तकों में लिख देनेसे खंडन नहीं कहा जा सकता, खंडन उसका नाम है कि जिस युक्ति और प्रमाण से दूसरे की दलीलें तोड़ी जावें? बस इसीसे कह सकते हैं कि स्याद्वाद न्याय का खंडन उनसे न हो सका। खंडन तो दूरही रहा परंतु वे स्याद्वाद न्याय को पूरा पूरा समझभी नहीं सके और कितनी बातों में जो शंकर स्वामी ने स्याद्वाद न्याय का गुप्त सहारा लिया है वह स्पष्ट दिखाई देता है देखिए? । अद्वैत[1]मीमांसा में लिखा है कि:—

औपनिषद् सिद्धान्तों के व्याख्याता ने विषय भेद से चार वर्ग बनाये हैं (१) ब्रह्म (२) जगदुत्पत्ति (३) आत्मा और (४) मुक्ति (जगदुत्पत्ति के ओर निरीक्षण करने से स्पष्ट विदित होता है कि शंकराचार्य ने कुछ जैन सिद्धान्तों का आधार लिया है और कुछ वेदादि अपर सिद्धान्तों का) 'जगदुत्पत्ति के संबन्ध में पर और अपर विद्या के नाम से दो विभाग

१—यह पुस्तक महादेव राजाराम बोडस एम्. ए. ने केसरी पत्र के एक लेख के आधार से लिखी है और आर्यभूषण प्रेस पूना में १८९३ ई. में छपी है।

शंकर ने माने हैं। अविद्यामूलक संसार अपर विद्या का विषय है। सर्व बाह्य सृष्टि के स्थान पर केवल व्यावहारिक सत्यत्व होने से वह माया के योग से ब्रह्म पर आभास रूप से भासमान होता है तथापि संसार को बीजाङ्कुर न्याय से अनादिही मानना चाहिये। इसके सिवाय ईश्वर ने सृष्टि निर्माण क्यों की ? इस प्रश्न का योग्य उत्तर लोगों को कभी भी देना आताही नहीं। जगत् उत्पन्न करने में कर्ता का कुछ भी हेतु होना चाहिये परन्तु वैसा हेतु शुद्ध ब्रह्म के स्थान पर कदापि संभवित नहीं होता। वृक्ष सूख गया तो भी बीज रहता ही है और उससे दूसरा वृक्ष उत्पन्न होता है उसी रीति से मनुष्य मरा तो भी उसका कर्म बीज पुनर्जन्म का कारण होता है इस रीत्यनुसार यह उत्पत्ति और नाश की अनादि परंपरा निरन्तर चल रही है।' देखिये महाशय ! आप के शंकर ने इधर उधर फिरफिराकर अन्त में जगत् को अनादिही माना है। यद्यपि शंकर स्वामी ने संसार को अनादि योग्य रीति से जैसा चाहिये वैसा नहीं माना तथापि अन्त में उनको यह तो कहना ही पड़ा कि सृष्टि अनादि है। "शंकराचार्य[२] व ज्ञानेश्वर" नामक महाराष्ट्र भाषा के पुस्तक में लिखा है कि:—"सर्व शास्त्रादि और प्रत्यक्षादि[३] प्रमाण अविद्यात्मक है" आगे फिर इसी पुस्तक में पृ. ३२, पं. १९ में लिखा है कि:—"शंकराचार्य ने जो अज्ञान का ग्रहण किया है इसका कारण ऐसा है कि वेदान्त, कर्म उपासना इत्यादि विषयक हैं और इन सभों की व्यवस्था लगाने का काम आचार्य पर आके पड़ा था

१—शंकराचार्य जी ने सृष्टि को जो अनादि कहा है वह तत्त्व उपनिषदों का नहीं है किन्तु जैन सिद्धान्तों का है इससे कह सकते हैं कि शंकर ने जैन सिद्धान्तों का आश्रय लिया है। और जो मनुष्य जिन सिद्धान्तों का आश्रय लेकर चलता है वह मनुष्य उन सिद्धांतों का क्या खण्डन कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता।

२—यह निबंध, रा. रा. बाला शास्त्री हुपरीकर ने लिखा है और विष्णु गोविंद विजापुरकर, एम. ए. सम्पादक ग्रंथमाला ने कोल्हापुर श्री समर्थ प्रसाद छापखाने में छपवाया है।

३—आदि शब्द से वेदादि शब्दप्रमाण भी अविद्यात्मकही समझना चाहिए।

और इनके भी पूर्व काल से अज्ञान के ग्रहण करने की रीति चली आई थी। यह योगवासिष्ठ पर से ओर उनके ग्रन्थों पर से समझ सकते हैं। इसलिये पीछे से चला हुआ अज्ञान का ग्रहण करके उन (शंकराचार्य) को भाष्यों को लिखना पड़ा, और उससेही श्रुतियों की व्यवस्था लगी। कर्म, उपासना अज्ञानी को है, ज्ञानी को कुछ नहीं ऐसा स्थल २ पर आचार्य का कथन है। और एक अज्ञान को ग्रहण करने के लिये आभासवाद, ईश्वरवाद, इत्यादि वाद और तत्वमसि आदि वाक्यों की सार्थकता होने लगी, और श्रुति का भार अपने मस्तकपर लेने के कारण श्रुति के व्यवस्था के लिए उन्होंने सर्व पक्ष लिए हैं। अब कितनेक लोग आचार्यपर ऐसा आक्षेप करते हैं कि, झूठा अज्ञान लेकर सब व्यवस्था की सही; परंतु उन्होंने (शंकर ने) इस रीति से जगत् को फसाया है। एक दृष्टि से यह आक्षेप यद्यपि सच्चा मालूम होता है तथापि विचार करने से आचार्य ने जो किया वह ठीक किया है ऐसा मालूम होता है।" देखिए ब्रह्माद्वैतवादीजी! आपके शंकर तो सब शास्त्रों को और प्रत्यक्षादि शाब्द पर्यन्त प्रमाणों को अविद्यात्मक बतलाते हैं और उनके अनुयायी यह स्वीकार भी करते हैं कि शंकराचार्य ने अज्ञान का ग्रहण किया। भला कहीं अज्ञान के ग्रहण करने वालों को भी कोई ज्ञानी कह सक्ता है! कभी नहीं। और जो अज्ञान का ग्रहण करके भाष्य लिखने पड़े तभी तो जैनलोग शंकर के कथन को अज्ञानी रचित कहते हैं। और जो आपका यह मानना है कि शंकराचार्य के पूर्व काल से ही अज्ञान ग्रहण करने की रीति चली आई थी तो इससे यह भी सिद्ध हो चुका कि वेद-वेदान्त दर्शन प्रथमसेही अज्ञान को ग्रहण करते चले आये हैं इसीसे सच्चे ज्ञान के ग्रहण करनेवाले जैन आपके अज्ञान के वाक्य नहीं मानते। भला कहीं अज्ञान को ग्रहण करने सेभी सार्थकता हो सकती है! अज्ञान को ग्रहण करना अज्ञानियों का काम है, न कि ज्ञानियों का। ज्ञानीलोग अज्ञान का ग्रहण करना बुरा समझते हैं इस लिये वे अज्ञान को नहीं ग्रहण कर सकते। शंकर के अनुयायी इस बात को कबूल करते हैं कि:-"उन्होंने इसरीति से जगत् को फसाया है; एक दृष्टि से यह आक्षेप सच्चा मालूम होता है" यदि यह आक्षेप सच्चा

है तो क्या शंकर स्वामी ऐसा मार्ग नहीं सोध सके कि ज्ञान मार्गसेही अपने पन्थ की वृद्धि करते ! इससे यह सिद्ध होता है कि शंकर ने अज्ञान मार्गसेही अपने पन्थ को बढ़ाया है, और यह भी कहसक्ते हैं कि अज्ञानीलोगही शंकर के अज्ञान में फसे होंगे ! यदि वे पूरे ज्ञानी होते तो ऐसा मार्ग कभी न लेते ! जब आप सब शास्त्र अज्ञानात्मकही मानते हैं तो शुद्ध ब्रह्म के लक्षण अज्ञानात्मक शास्त्रों में कहाँसे हो सकते हैं ! कहीं अज्ञान से ज्ञान प्राप्त होसक्ता है ! कदापि नहीं । इससे यह सिद्ध हो चुका कि आप के वेद वेदान्तादि शास्त्रों से सच्चा ब्रह्म का स्वरूप नहीं मिल सक्ता । और जैनों के शास्त्र पूर्ण ज्ञानात्मक हैं इससे सच्चा ब्रह्म का स्वरूप इनसे बराबर मिल सकता है । जैनलोग श्रुति स्मृति आदि वेद-वेदान्त शास्त्रों को न तो प्रमाण मानते थे और न अब मानते हैं । कहीं अज्ञान मार्ग से ज्ञान मार्ग की स्थापना हो सकती है; कभी नहीं। जैन लोगों के प्रश्नों के समाधान करने की शक्ति शंकर में नहीं थी क्यों कि शंकर स्वामी जैन शास्त्रों का रहस्य ही नहीं जानते थे ऐसा उनके ग्रन्थों से मालूम होता है । मण्डनमिश्र जैन नहीं थे किन्तु द्वैतवादी थे और उनकी स्त्री के साथ कामचर्चा में शंकरस्वामी को निरुत्तर होना पड़ा था । यदि पूर्णज्ञानी होते तो उसी समय उत्तर दे के समाधान कर देते ! जैनों के किसी भी ग्रंथ में शंकराचार्य की स्तुति की हुई हमारे देखने में नहीं आई; यदि कोई बहादुर हो तो बतलावे हम स्वीकार कर सकते हैं । परन्तु हमारी समझ से यह केवल झूठ है । जैन किसी का भी उत्कर्ष देखकर नाराज नहीं होते । परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जैन शंकर के मत को अच्छा समझे हैं, बल्कि जैन श्वेतांबराचार्य श्रीमान् हेमचंद्राचार्यकृत ब्रह्माद्वैतवाद का खंडन दिखाई दे रहा है । आप लोग जगत् का कारण ईश्वर अर्थात् ब्रह्म को मानते हैं यह भी आप की निरी भूल है हम इसी ग्रंथ के पृष्ठ १७ पर सिद्ध कर चुके हैं कि ईश्वर जगत का कारण सिद्ध होही नहीं सकता, इसलिये यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है । यह ग्रन्थ किसी एक के सिद्धान्तों पर टीका करने के लिए नहीं लिखा गया है किन्तु जगत् के अनादि और अकर्तृजन्य सिद्ध करने के लिये रचा गया है । इस

लिए हम इसके संवन्ध में इस जगह अधिक लिखना नहीं चाहते। शंकराचार्य जी के संबंध में इस ग्रंथ में परामर्श करने का प्रयोजन यह हुआ कि आपने भी ब्रह्म को सर्वव्यापी और जगत् का कारण माना है इस लिए इनके संवन्ध में लिखना अप्रासंगिक नहीं समझना चाहिए। और अनेक बातें प्रसंगतः जो जो लिखी गई हैं वह देखकर विषयान्तर नहीं समझना चाहिये। यदि समय मिला तो शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैतवाद के संबंध में अपने विचार फिर किसी समय में अन्य स्थल पर प्रकट करने की चेष्टा करूंगा।

वेद—वेदान्तादि दर्शन के अनेक विद्वान्‌गण जैनदर्शन को बौद्ध चार्वाक, नास्तिक कहकर अथवा उक्त मतों के तुल्य बतलाकर केवल आपही सच्चे आस्तिक बनने का दावा करते हैं, परंतु इस बात को कहनेवाले अपनी अज्ञता पूरी पूरी झलकाते हैं। जैनधर्म अनादि काल से ही अविच्छिन्न प्रवाह रूप से चला आया है और आस्तिक शिरोमणि धर्म है। और यह बात वेदमतानुयायी काशी (बनारस) निवासी साक्षरवर्य सर्वतंत्रस्वतंत्र सत्सम्प्रदायाचार्य स्वामी [1]राममिश्र शास्त्री जी ने अपनी वक्तृता में सिद्ध करदी है पाठक! इस व्याख्यान का सारांश गौर के साथ पढ़िये कि वैदिक विद्वान जैन धर्म के संवन्ध में क्या फरमा रहे हैं जरा ध्यान दीजिए:—

"सज्जन महाशय!

आज बड़ा सुदिन और मांगलिक समय है कि हम भारतवर्षीय, जिनके यहाँ सृष्टि के आदि कालही से सभ्यता, आत्मज्ञान, परार्थ आत्मसमर्पण, आत्मा की अनाद्यन्तता ज्ञान चला आया है बल्कि समय के फेर से कुछ पुरानी प्रतिष्ठा पुरानी सी पड़ गयी है, वे इस

१—स्वामी राममिश्रशास्त्री जी ने काशी में यशोविजय जी जैनसंस्कृत पाठशाला के भवन में जैन धर्म विषय पर जो व्याख्यान दिया था, वह व्याख्यान (भाषण) 'सुजनसम्मेलनम्' नाम से पुस्तक रूप में मुंबई निवासी सेठ वीरचंद दीपचंद सी. आई. ई. जे. पी. और सेठ गोकुल भाई मूलचंद द्वारा बनारस चंद्रप्रभा प्रेस में छप कर प्रकाशित हुआ है। और यह शास्त्रविशारद-विजयधर्म सूरि जी की कृपा का फल है।

स्थान में एकत्र हुये हैं अवश्य ही इसे सौभाग्य मानना और कहना चाहिये, क्योंकि वैदिक मत और जैन मत सृष्टि की आदि से बराबर अविच्छिन्न चले आये हैं और इन दोनों मजहबों के सिद्धान्त विशेष घनिष्ठ समीप संबन्ध रखते हैं जैसा कि पूर्व में मैं कह चुका हूँ और जैसा कि सत्कार्य वाद, सत्कारण वाद, परलोकास्तित्व, आत्मा का निर्विकारत्व, मोक्ष का होना और उसका नित्यत्व, जन्मान्तर के पुण्य पाप से जन्मान्तर में फल भोग, व्रतोपवासादि व्यवस्था, प्रायश्चित व्यवस्था, महाजन पूजन, शब्द प्रमाण इत्यादि समान हैं, बस तो इसी हेतु मुझे यहाँ यह कहते हुए मेरा शरीर पुलकित होता है कि आज का यह हमारा जैनों के सङ्ग एक स्थान में उपस्थित होकर संभापण वह है कि जो चिरकाल के बिछुड़े भाई भाई का होता है। सज्जनों! यह भी याद रखना जहाँ भाई भाई का रिस्ता है वहाँ कभी कभी लड़ाई की भी लीला लग जाती है परन्तु याद रहे उसका कारण केवल अज्ञानही होता है।

इस देश में आजकल अनेक अल्पज्ञ जन बौद्ध मत और जैन मत को एक जानते हैं और यह महा भ्रम है। जैन और बौद्धों के सिद्धान्त को एक जानना ऐसी भूल है कि जैसे वैदिक सिद्धान्त को मान कर यह कहना कि वेदों में वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है अथवा जाति व्यवस्था नहीं है।

आगे फिर लिखा है कि "अज्ञों की दन्तकथा है कि जैन और बौद्ध एक समान हैं; सज्जनो! बुरा न मानो और बुरा मानने की बात ही कौन सी है जब कि खाद्यखण्डनकार श्रीहर्ष ने स्वयं अपने ग्रन्थ में बौद्ध के साथ अपनी तुलना की है और कहा कि हम लोगों से [याने निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तियों से] और बौद्धों से यही भेद है कि हम ब्रह्म की सत्ता मानते हैं और सब मिथ्या कहते हैं, परन्तु बौद्धशिरोमणि माध्यमिक सर्व शून्य कहता है तब तो जिन जैनोंने सब कुछ माना उनसे नफरत करनेवाले कुछ जानतेही नहीं और मिथ्या द्वेष मात्र करते हैं यह कहना होगा। सज्जनों! जैन मत से और बौद्ध सिद्धान्त से जमीन आस्मान का अन्तर है। उससे एक जान

कर द्वेष करना यह अज्ञ जनों का कार्य है सबसे अधिक वे अज्ञ हैं कि जो जैन सम्प्रदाय सिद्ध मेलो में विघ्नडालकर पापभागी होते हैं "।

आगे फिर लिखते हैं कि "सज्जनो ! ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, क्षान्ति, अदम्भ, अनीर्षा, अक्रोध, अमात्सर्य अलोलुपता, शम, दम, अहिंसा, समदृष्टिता इत्यादि गुणों में एकेक गुण ऐसा है कि जहाँ वह पाया जाय वहाँ पर बुद्धिमान् पूजा करने लगते हैं तव तो जहाँ ये पूर्वोक्त सव गुण निरतिशयसीम होकर विराजमान हैं उनकी पूजा न करना अथवा गुणपूजकों की पूजा में बाधा डालना क्या इनसानियत का कार्य है ? "

फिर आगे लिखते हैं कि "सज्जनो ! अज्ञता ऐसी चीज़ है उसके कारण अनेक बेर अनेक लोक बिना जाने बूझे दूसरे की निन्दा कर बैठते हैं । थोड़ेही दिन की बात है कि किसी नये मजहवी ने जोसमें आकर जैनमत में मिथ्या आरोप किये और अन्त में हानि उठाई । मैं आपको कहां तक कहूँ बड़े बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है कि जिसे सुन देख कर हँसी आती है ।

मैं आप के सन्मुख आगे चलकर स्याद्वाद का रहस्य कहूँगा तव आप अवश्य जान जाँयगे कि वह एक अभेद्य किला[1] है उसके अन्दर मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते ।

आगे फिर लिखते हैं कि "सज्जनो ! एक दिन वह था कि जैन सम्प्रदाय के आचार्यों के हुंकार से दशो दिशाएं गूंज उठती थीं, एक समय की वार्ता है कि हमारे ही (याने वैदिक सम्प्रदायी वैष्णव ने) किसी साम्प्रदायिक ने हेमचंद्राचार्य जी को देखकर कहा—

'आगतो हेमगोपालो, दण्डकम्बलमुद्वहन् ।

बस तो फिर क्या था उन्होंने मन्दमुसकान के साथ उत्तर दिया कि—

---

१ किला—दुर्ग—गढ—कोट—इत्यादिक कहते हैं ।

'षड्दर्शनपशुप्रायांश्चारयन् जैनवाटके '

सज्जनो ! इस श्लोक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को सुनकर आप लोग खूब जान गये होंगे कि पूर्व समय पर आपस में विद्वानों के हँसी ठठोल भी कैसे होते थे । ये महानुभाव हेमचन्द्राचार्य व्याकरण से लेकर दर्शन शास्त्र पर्यंत सर्व विषय में अप्रतिम आचार्य थे । सज्जनो ! जैसे कालचक्र ने जैनमत के महत्व को ढांक दिया है वैसे ही उसके महत्व को जानने वाले लोग भी, अब नहीं रहगये । 'रज्जब साचे सूर कों वैरी करै वखान' । यह किसी भाषाकवि ने बहुत ही ठीक कहा है । सज्जनो ! आप जानते हो मैं वैष्णवसम्प्रदाय का आचार्य हूं यही नहीं है मैं उस सम्प्रदाय का सर्वतोभाव से रक्षक हूं और साथ ही उसकी तरफ कड़ी नजर से देखने वाले का दीक्षक भी हूं तौ भी भरी मजलिस में मुझे कहना सत्य के कारण आवश्यक हुआ है कि जैनों का ग्रन्थ समुदाय, सारस्वत महासागर है । उसकी ग्रन्थ-संख्या इतनी अधिक है कि उन ग्रन्थों का सूचीपत्र भी एक महा निबंध हो जायगा । "

फिर आगे लिखा है कि—"सज्जनो ? जैन मत का प्रचार कब से हुआ इस वारे में लोगों ने नाना प्रकार की उछल कूद की है और अपने मनो नीत कल्पना की है । और यह बात ठीक भी है जिसका जितना ज्ञान होगा वह उस वस्तु को उतनाही और वैसाही समझेगा" ।

आगे लिखा है कि—"इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से भी पूर्व का है तव ही तो भगवान् वेद व्यास महर्षि ब्रह्म सूत्रों में कहते हैं:—'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सज्जनों ! जब वेद व्यास के ब्रह्मसूत्रप्रणयन के समय पर जैन मत था तव तो उसके खण्डनार्थ उद्योग किया गया, यदि वह पूर्व में नहीं था तो वह खण्डन कैसा और किस का ? सज्जनों ! समय अल्प है और कहना बहुत है इससे छोड़ दिया जाता है नहीं तो बात यह है कि वेदों में अनेकांत वाद का मूल मिलता है । सज्जनों ! मैं आप को वेदा-न्तादि दर्शन शास्त्रों का और जैनादि दर्शनों का कौन मूल है यह कह-

कर सुनाता हूँ। उच्चश्रेणी के बुद्धिमान् लोगों के मानस निगूढ विचार ही दर्शन हैं। जैसे अजात वाद, विवर्त वाद, दृष्टि-सृष्टि वाद, परिणाम वाद, आरम्भ वाद, शून्यवाद इत्यादि दार्शनिकों के निगूढ विचार ही दर्शन हैं। बस तव तो कहना होगा कि सृष्टि की आदि से जैन मत प्रचलित है। सज्जनो ! अनेकान्तवाद तो एक ऐसी चीज है कि उसे सबको मानना होगा, और लोगों ने माना भी है। देखिए विष्णु पुराण में लिखा है:—

नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम !
वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्या जमाय च
कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ?

यहाँ पर जो पराशर महर्षि कहते हैं कि वस्तु वस्त्वात्मक नहीं है, इसका अर्थ यही है कि कोई भी वस्तु एकान्ततः एक रूप नहीं है, जो वस्तु एक समय सुख हेतु है वह दूसरे क्षण में दुःख की कारण हो जाती है; और जो वस्तु किसी क्षण में दुःख की कारण होती है वह क्षण भर में सुख की कारण हो जाती है। सज्जनो ! आपने जाना होगा कि यहां पर स्पष्ट ही अनेकान्तवाद कहा गया है। सज्जनों ! एक बात पर और भी ध्यान देना जो "सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं जगत्" कहते हैं उनको भी विचार दृष्टि से देखा जाय तो अनेकान्तवाद मानने में उज्र नहीं है, क्योंकि जब वस्तु सद् भी नहीं कही जाती और असद् भी नहीं कही जाती तो कहना होगा कि किसी प्रकार से सत् होकर भी वह किसी प्रकार से असत् है, इस हेतु न वह सत् कही जा सक्ती है और न तो असत् कही जा सक्ती है, तो अब अनेकान्तता मानना सिद्ध हो गया। सज्जनों ! नैयायिक तम को तेजोऽभाव स्वरूप कहते हैं और मीमांसक और वेदान्तिक बड़ी आरभटी से उसका खंडन करके उसे भाव स्वरूप कहते हैं तो देखने की बात है कि आज तक इसका कोई फैसला नहीं हुआ कि कौन ठीक कहता है तो अब क्या निर्णय होगा कि कौन बात ठीक है। तब

तो दो की लड़ाई में तीसरे की पौ बारा है याने जैन सिद्धान्त सिद्ध हो गया, क्योंकि वे कहते हैं कि वस्तु अनेकान्त है उसे किसी प्रकार से भावरूप कहते हैं और किसी रीति पर अभावरूप भी कह सक्ते हैं। किसी रीति पर कोई आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं और कोई ज्ञानाधार स्वरूप बोलते हैं तो बस कहनाही क्या अनेकान्त वाद ने पद पाया। किसी रीति पर कोई ज्ञान को द्रव्यस्वरूप मानते हैं और कोई वादी गुणस्वरूप। इसी रीति पर कोई जगत् को भाव स्वरूप कहते हैं और कोई शून्य स्वरूप तब तो अनेकान्तवाद अनायास सिद्ध हो गया।

कोई कहते हैं कि घटादि द्रव्य हैं और उनमें रूप स्पर्शादि गुण हैं। परंतु दूसरी तरफ के वादी कहते हैं कि द्रव्य कोई चीज नहीं है वह तो गुणसमुदाय स्वरूप है। रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण इत्यादि का समुदाय ही तो घट है इसे छोड़ कर घट कौन वस्तु है। कोई कहते हैं आकाश नामक शब्दजनक एक निरवयव द्रव्य है। परंतु अन्य वादी कहते हैं कि वह तो शून्य है।

सज्जनो ! कहाँ तक कहा जाय कुछ वादियों का कहना है कि गुरुत्व गुण है। परन्तु दूसरी तरफ़ वादी लोगों का कहना है कि गुरुत्व कोई चीज नहीं है पृथ्वी में जो आकर्षण शक्ति है उसे न जान कर लोगों ने गुरुत्व नामक गुण मान लिया है।

मित हित वाक्य पथ्य है, उसीसे ज्ञान होता है वाग्जाल का कोई प्रयोजन नहीं है इस हेतु यह विषय यहाँ ही छोड़ दिया जाता है और आशा की जाती है कि जैन मत के क्रमिक व्याख्यान दिये जायँगे।

शुभानि भूयासुर्वर्द्धमानानि।

शम्

स्वामी राममिश्र शास्त्री—अगस्त्याश्रमाश्रम-काशी.

मि० पौष शुक्ल प्रातिपत्—बुधवार सं० १९६२

आपलोग प्रसिद्ध वैदिक विद्वान श्रीमान् राममिश्र शास्त्री जी के व्याख्यान पर से भली भाँति जान सक्ते हैं कि जैनमत आस्तिक है या नास्तिक ? और जैन दर्शन का स्याद्वाद न्याय कितना पुख्त है यह भी आप अच्छी तौर से समझ सक्ते हैं। जैन श्वेताम्बर कानफरन्स के बड़ोदे का अधिवेशन तारीख ३० । १२ । १९०४ ई० में हुआ था उस वक्त जगत्प्रसिद्ध देशभक्त माननीय पण्डित श्रीयुत बालगङ्गाधर तिलक महोदय ने अपनी वक्तृता में कहा था कि "ब्राह्मणों और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरा-पान बन्द हुआ यह भी जैनधर्म[1] का ही प्रताप है" इत्यादि बहुत कुछ कहा था। देखिए ! जैन दर्शन की तारीफ अन्यमतों के बड़े बड़े विद्वानगण कर रहे हैं। सच्ची बड़ाई वह है कि जिसकी तारीफ दूसरे लोग करें। जैन दर्शन की प्रशंसा अनेक पूर्वदेशीय और पाश्चात्य विद्वानों ने की है और करते ही चले जाते हैं विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। जैन दर्शन के तत्त्व सब दर्शनों से अधिक श्रेष्ठ हैं, इससे विश्वास करने योग्य है। जैन दर्शन जगत्का कर्ता ईश्वर को नहीं मानता और यह बात बहुत ठीक है।

जगत् ईश्वर का रचा हुआ मानने वाले वेदादि धर्मावलम्बियों से जब पूछा जाता है कि ईश्वर को जगत्का कर्ता आपलोग मानते हैं इस संबंध में आप के पास क्या दृढ़ प्रमाण है ? तो प्रत्युत्तर में जोर देकर कहते हैं कि इस बात का साक्षी वेद है। और वेद ईश्वर के रचे हुए हैं इसलिए विश्वास करने के योग्य हैं इससे बढ़ कर क्या प्रमाण चाहिए ? । वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय, अथवा मनुष्यनिर्मित ? सद्मार्गदर्शक है या नहीं ? और विश्वास करने योग्य है या अयोग्य? अब हमे इन उक्त बातों पर परामर्श करना अवश्य है। परन्तु हमारे ओर से लिखने की भी कोई जरूरत नहीं मालूम होती। क्योंकि कितनेक वेद मतानुयायी विद्वान् महाशयही वेदों को क्या समझ रहे

---

१ जैन धर्म के प्रताप से ब्राह्मण और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरा पान बंद हुआ इस उपकार के बदले में 'कितनेक मनुष्य जैनों को नास्तिक किंवा नास्तिकों की श्रेणी में कहने का साहस करते हैं धन्य है ऐसे साहसियों को ?

हैं और लेखनी द्वारा क्या व्यक्त कर रहे हैं यह बतलाना विशेष लाभ दायक होगा इस लिए हम एक वैदिक विद्वान महाशय केही विचार यहां पर देना उचित समझते हैं। पाठक इसे पढ़ कर इस बात पर विचार करें:—

वेद

"वेद शब्द "विद्" धातु से निकला है। इस धातु से जानने का अर्थ निकलता है।" आगे लिखा है कि—"वेद पर सनातन धर्माव-लम्बी हिन्दुओं का अटल विश्वास है। वेद हम लोगों का सब से श्रेष्ठ[2] और सबसे पुराना ग्रन्थ है।"

आगे लिखा है कि—"कोलब्रुक साहब ने भी वेद–प्राप्ति की चेष्टा की थी, पर किसी दाक्षिणात्य पंडित ने वैदिक छन्दों में लिखी हुई देवी–देवताओं की स्तुतियों से पूर्ण एक ग्रंथ उन्हें दे दिया और कहा कि यही वेद है। भला म्लेच्छों को कहीं दाक्षिणात्य पंडित वेद दे सक्ते हैं? ऐसाही धोखा एक और साहब को भी दिया गया था। मदरास के किसी शास्त्री ने सत्रहवीं शताब्दी में एक कृत्रिम यजुर्वेद की पुस्तक फादर रावर्ट डि नोबिली नामक पादरी को देकर उससे बहुतसा रुपया लिया। यह ग्रन्थ १७६१ ईसवी में पेरिस के प्रधान पुस्तकालय में पहुँचा, वहाँ पहले इसकी बड़ी कदर हुई। पर सारा भेद पीछे से खुल गया।"

आगे लिखा है कि–वेदों की "त्रयी" संज्ञा है। त्रयी कहने से ऋक्, यजु और साम इन्हीं तीन वेदों का ज्ञान होता है। अथर्व वेद एक प्रकार का परिशिष्ट है। ऋग्वेद में तीन ही वेदों का उल्लेख है।

---

१ यह लेख विनायक विश्वनाथ, वेद विख्यात जी की सही से इलाहाबाद (प्रयाग) की सरस्वती नाम की मासिक पत्रिका के भाग ९ वें की संख्या ९ पर अर्थात् १९०८ के सप्तेम्बर की संख्या में पृष्ठ ३८९ पर छपा है।

२ कैसा श्रेष्ठ और कैसा पुराना ग्रंथ है यह इस लेख को पढ़ने से मालूम हो जायगा। ग्रन्थकर्त्ता

यथाः—

"अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय त्रयमृषयस्त्रयी वेदा विदुः ऋचो यजूंषि सामानि"

मनुस्मृति में भी मनु ने—" दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसाम लक्षणम्" कहकर तीन ही वेदों का नाम लिया है। परंतु पीछे से चार वेद माने जाने लगे। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण आदि पुराणों में तो सर्वत्र ही चार वेदों का उल्लेख है—लिखा है कि ब्रह्मा के एक एक मुँह से एक एक वेद निकला है।" सनातन धर्म्मावलम्बियों का पक्का विश्वास है कि वेद नित्य है और वे ईश्वरप्रणीत हैं। कपिल ने सांख्य दर्शन में ईश्वर की स्थिति में तो सन्देह किया है "प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः" पर वेदों के ईश्वरप्रणीत होने में किसीने सन्देह नहीं किया। यथाः—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्यासम्भवात्"। न्याय दर्शन के कर्त्ता गौतम को छोड़कर सव दर्शनकारों की यही राय है। सव वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं। अकेले गौतम ही ने उन्हें पौरुषेय अर्थात् पुरुषकृत लिखा है। अव नहीं कह सकते कि इस "पौरुषेय" से उनका क्या मतलव था। वे वेदों को साधारण हम तुम सदृश पुरुष के रचे हुए मानते थे, या पुरुष प्रकृतिवाले "पुरुष" (ईश्वर) से उनका मतलव था। यदि उन्हें पिछली वात अभीष्ट थी तो यह कहना चाहिये कि सभी दर्शनकारों की इस विषय में एकता है। किसी किसी मुनि की तो यहाँ तक राय है कि वेद नित्य हैं और उन्हीं के अनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना करता है? सो वेद ईश्वर के भी पथ[1] प्रदर्शक हुए! वेद नित्य है, इससे कल्पान्त में वे हिरण्यगर्भ

---

१ वेदों को ईश्वर के पथदर्शक मानने से वेद ईश्वर के रचे सिद्ध नहीं होते और अनादि भी सिद्ध नहीं हो सकते इससे यही मालूम होता है कि वैदिक ऋषियों ने वेद रचे हैं। और दूसरी वात यह भी है कि वेदों को ईश्वर के पथदर्शक मानने से ईश्वर से भी वेदो की योग्यता विशेप हुई इससे ईश्वर न्यूनगुण हुआ और वेद पूर्णगुण हुए, देखिए यह कैसा आश्चर्य है!।

(ब्रह्मा) को आप ही आप आ जाते हैं। सृष्टि की आदि में हिरण्यगर्भ ही पहले पहल पैदा होते हैं। वेद उनके पूर्वाभ्यस्त रहते हैं। इससे स्मरण करते ही उन्हें वे आप ही आप याद हो जाते हैं। सो कर जगने पर क्या पूर्वाभ्यस्त बातें किसीको भूल भी जाती हैं? फिर हिरण्य-गर्भ को वेद कैसे भूल सकते हैं? इस तरह के शास्त्रार्थ से कितने ही प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं"।

"इस समय आर्य्य-समाज में वैदिक बातों पर बहुधा विचार हुआ करता है। इस समाज के कोई कोई अनुयायी वेद का यथार्थ अर्थ जानने की चेष्टा भी करते हैं। "त्रिवेद निर्णय" नामक पुस्तक इसका प्रमाण है। पर वे भी वेदों को ईश्वरोक्त मानते हैं? परंतु वेदों को विचार पूर्वक पढ़ने से यह बात नहीं पायी जाती। इसीसे इस समय के अच्छे अच्छे विद्वान् वेदों के कर्तृत्वविषय में वाद विवाद नहीं करते। वे इसकी ज़रूरत ही नहीं समझते। वे जानते हैं कि वेद मनुष्यनिर्मित हैं। परंतु सर्व साधारण ऐसा नहीं मानते। इससे जो कोई वेदों के ईश्वरप्रणीत होने में शङ्का करता है उसे वे घोर पापी और घोर अधर्मी समझते हैं। इसे हम बखूबी जानते हैं। तिस पर भी जो हम सर्व साधारण के विश्वास के विरुद्ध लिख रहे हैं उस का कारण यह है:—"सत्ये नास्ति भयं क्वचित्"

"वेदाध्ययन नहीं, वेद पाठ से ही यह मालूम होता है कि वैदिक ऋषिही वेद[1] प्रणेता हैं। वैदिक सूक्तोंही में प्रणेता ऋषियों के नाम विद्यमान हैं। इन्हीं ऋषियों ने अनेक प्रकार के छन्दों में स्तोत्र आदि बनाकर देवताओं की स्तुति और प्रार्थना की है। यह सब उन्होंने अपने अपने [2]अभीष्ट साधने के लिए किया था। लिखा भी है:—

---

१ इन वचनों से भी स्पष्ट मालूम होता है कि न वेद पौरुषेय है और न अपौ-रुषेय किन्तु मनुष्यनिर्मित है। हां यदि पौरुषेय कहने वाले हमारे तुम्हारे समान साधारण मनुष्यों के अर्थात् ऋषियों के रचे मानते हों तो ठीक है। "ग्रन्थकर्त्ता"

२ अपने २ अभीष्ट साधन के लिए किये हुए मंत्र सर्व साधारण को मान्य किस न्याय से हो सकते हैं? और मुक्ति भी कैसे दे सकते हैं! नहीं, इससे ही वेदों को अनेक विद्वान् अमाननीय कहते हैं।

" अर्थं पश्यन्तु ऋषयो देवताश्छन्दोभिरभ्यधावन् "।
जैसे पीछे के संस्कृत-कवियों ने गणेश, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य आदि की स्तुतियों से पूर्ण स्तोत्र बनाये हैं वैसेही अग्नि, सोम, वरुण, साविता इन्द्र आदि की स्तुतियों से परिपूर्ण स्तोत्र वैदिक ऋषियों के बनाये हुए हैं। यहां पर कोई यह कह सकता है कि वैदिक ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे। उन्होंने योगवल से ईश्वर से प्रत्यादेश की तरह वैदिक [1]मन्त्र प्राप्त किये हैं। यदि यह वात है तो इन सूक्तों में इन ऋषियों की निज की दशा का वर्णन कैसे आया? ये मंत्र इनकी अवस्था के ज्ञापक कैसे हुए? ऋग्वेद का कोई ऋषि कूँए में गिरजाने पर उसीके भीतर पड़े पड़े स्वर्ग और पृथिवी आदि की स्तुति कर रहा है। कोई इन्द्र से कह रहा है कि आप हमारे शत्रुओं का संहार कीजिये। कोई साविता से प्रार्थना कर रहा है कि हमारी बुद्धि को वढ़ाइए। कोई वहुत सी गाएं मांग रहा है, कोई वहुत से पुत्र। कोई पेड़, सर्प, अरण्यानी, हल और दुन्दुभी पर मन्त्र रचना कर रहा है। कोई नदियों को भलाबुरा कहरहा है कि ये हमें आगे वढ़ने में बाधा डालती हैं। कहीं मांस का उल्लेख है, कहीं [2]सुरा का है, कहीं द्यूत

---

१ यह वात महम्मदी कुरान के लिये और इसाई अपनी बाईवल के लिये भी कहते हैं किसका कहना सत्य है और किसका झूठ है और इस वारे में तीनोंही के समीप क्या प्रमाण है?

२ जिन वेदों में अथवा वेदाङ्ग में दारू पीने का, मांस काम में लेने का, द्यूत को उत्तेजन देने का, दिल्लगी करने का, भला बुरा कहने का, देवताओं से स्वार्थ के लिये प्रार्थना करने का, मारण मोहन उच्चाटन वशीकरण स्त्रीवशीकरण द्यूत में जीत होने इत्यादि कुकार्यों के करने का मंत्र तथा वर्णन है और ऐसा अनीति का जिन वेदों में उपदेश है उन घृणित शास्त्रों को कौन बुद्धिमान् अपौरुषेय अथवा विश्वास करने योग्य और सद्मार्गदर्शक कह सकता है? कई लोगों की यह राय है कि खास वेदों में ऐसी अनुचित वातें नहीं हैं किन्तु मांस मदिरादि के सेवन करने वालों ने ब्राह्मणादि वेदाङ्ग शास्त्रों में पीछे से मिलादी है, अस्तु। किन्तु वेद अथवा वेदाङ्ग शास्त्रों में यह वातें देखने में आती हैं तभी तो कई विद्वान् ऐसा लिखते हैं। 'ग्रन्थकर्त्ता'

का है। ऋग्वेद के सातवें मंडल में तो एक जगह एक ऋषि ने बड़ी दिल्लगी की है। सोमपान करने के अनन्तर वेद-पाठ-रत ब्राह्मणों की वेद-ध्वनि की उपमा आपने बरसाती मेंडकों से दी है। ये सब बातें वेद के ईश्वरप्रणीत न होने की सूचक हैं। ईश्वर के लिए गाय, भैंस, पुत्र, कलत्र, दूध, दही मांगने की कोई जरूरत नहीं। यह ऋग्वेद की बात हुई। यजुर्वेद का भी प्रायः यही हाल है। सामवेद के मन्त्र में तो कुछ अंश को छोड़कर शेष सब ऋग्वेद ही से चुने गये हैं। रहा अथर्ववेद, सो वह तो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि मन्त्रों से परिपूर्ण है। स्त्रियों को वश करने और जुवे में जीतने तक के मन्त्र अथर्ववेद में हैं। अतएव इस विषय में विशेष वक्तव्य की जरूरत नहीं। न ईश्वर जूवा खेलता है और न वह स्त्रैणही है। न वह ऐसी बातें करने के लिये औरों को प्रेरणाही करता है। ये सब मनुष्यों ही के काम हैं; जिन्होंने वेदों की रचना की है।"

"[१]परन्तु ईश्वर-प्रणीत न होने से वेदों का महत्त्व कुछ कम नहीं होसकता। चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से देखिए, चाहे धार्मिक दृष्टि से देखिए, चाहे विद्या विषयक दृष्टि से देखिए, वेदों की बराबरी और किसी देश का कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। प्राचीन समय की विद्या, सभ्यता और धर्म का जैसा उत्तम चित्र वेदों में पाया जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। वैदिक समय में भारतवासियों की सामाजिक अवस्था कैसी थी, वे किस तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे, कहाँ रहते थे, क्या किया करते थे—इन सब बातों का पता यदि कहीं मिल सकता है तो वेदोंही में मिल सकता है। अतएव वेदाध्ययन करना हम लोगों का बहुत बड़ा कर्त्तव्य है।"

---

१ नहीं कह सकते कि जिन ग्रन्थों के विषय में द्यूत, स्त्रैणादि घृणाकारक विचार 'वेद विख्यात जी' कर आये हैं फिर उन्हीं के संबन्ध में उन्हें ऐसा लिखने का क्या कारण हुआ! परन्तु अनुमान होता है कि शायद अन्य वैदिक लोगों के भय से अथवा जैन साहित्य के अवलोकन के अभाव से, बलात् आदरणीय लिखना पड़ा हो!

"जिस[1] रूप में आज कल वेद ग्रन्थ देखे जाते हैं वह उनका आदिम रूप नहीं है। उनका वर्तमान रूप वेद व्यासजी की कृपा का फल है। व्यासजी के पहले वैदिक स्तोत्रसमूह एक जगह एकत्र न था। वह कितनेही भिन्न भिन्न अंशों में प्राप्य था। क्योंकि सारे स्तोत्रसमूह की रचना एकही समय में नहीं हुई। कुछ अंश कभी बना है, कुछ कभी। किसी की रचना किसी ऋषि ने की है, किसी की किसी ने। उन सब बिखरे हुए मन्त्रों को कृष्ण द्वैपायन ने एक प्रणाली में बद्ध करदिया। तभी से वेदों के नाम के आगे "संहिता" शब्द प्रयुक्त होने लगा। उसका अर्थ है— "समूह" "जमाव," "एकत्रीकरण"। वर्तमान रूप में वेदप्रचार करनेही के कारण बादरायण का नाम वेद-व्यास पड़ा। उन्होंने समग्र वेद अपने चार शिष्यों को पढ़ाये। वह्वृच नामक ऋग्वेद–संहिता पैल को, निगद नामक यजुर्वेद–संहिता वैशम्पायन को, छन्दोग नामक सामवेद–संहिता जैमिनि को, और अङ्गिरसी नामक अथर्व-संहिता सुमन्तु को। इन चार शिष्यों ने अपने अपने शिष्यों को नई प्रणाली के अनुसार वेदाध्ययन कराया। इस प्रकार वेद-पाठियों की [2]संख्या बढ़ते बढ़ते वेदों की अनेक शाखायें होगई, मन्त्रों में कहीं [3]पाठ-भेद होगया। किसी ऋषि के पढ़ाये शिष्य एक तरह का पाठ पढ़ने लगे, किसी के और तरह का। यह पाठ-भेद यहांतक बढ़गया कि सामवेद की सौ तक शाखायें होगई! परन्तु अब ये सब शाखा पाठ नहीं मिलते। कुछही मिलते हैं।"

---

१ वेद, व्यासजी के पहले वेद ग्रन्थ के रूप में ही नहीं थे। ग्रन्थ का रूप व्यासजी नेही वेदों को दिया और वेदों का महत्वभी तब से विशेष बढ़ा इससे कह सकते हैं कि वेदों पर जितना अब वैदिकों का विश्वास है उतना व्यासजी के पहले नहीं था। ईश्वरप्रणीत शास्त्रों का रूप सर्व काल एक समान चाहिए। "ग्रन्थकर्त्ता"

२ इससे यह भी प्रतीत होता है कि व्यासजी के पहले वेद जाननेवाले कम थे ? जभी तो शाखाओं का अभाव होगया ?

३ ईश्वरप्रणीत शास्त्रों मे भी कहीं पाठ भेद होसकता है ? इसलिये जो वेद विख्यातजी की राय है कि वेद ईश्वरप्रणीत नहीं हैं किन्तु मनुष्यनिर्मित है यह ठीक मालूम होती है।

"वेदों के व्याख्यान अर्थात् टीका का नाम "ब्राह्मण" है। बहुत लोग संहिता और ब्राह्मण दोनों की "वेद" संज्ञा मानते हैं। वे कात्यायन के "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस वाक्य का प्रमाण देते हैं। परन्तु यह बात विचारणीय है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों का मतलब समझाया गया है। और भी कितनीही बातें हैं। अतएव उनकी रचना वेदों के साथही हुई नहीं मानी जा सकती। वैदिक मन्त्रों के आशय समझने में जब कठिनाई पड़ने लगी होगी तब "ब्राह्मण" बनाये गये होंगे, पहले नहीं। ऋग्वेद के ब्राह्मणों में विशेष करके होता के कामों का विधान है और यजुर्वेद के ब्राह्मणों में अध्वर्यु के और सामवेद के ब्राह्मणों में उद्गाता के कामों का विधान है। यज्ञसंबन्धी बातों को खूब समझाने और यज्ञ कार्य का सम्बन्ध वैदिक मन्त्रों से अच्छी तरह बतलानेही के लिये ब्राह्मणों की सृष्टि हुई है। संहिता पद्य में है, ब्राह्मण गद्य में। गद्य के बीच में कहीं कहीं "गाथा" नामक पद्यभी ब्राह्मणों में है।"

"ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्त में "आरण्यक" हैं। जो घर छोड़कर वन चले गये हैं, अतएव जिन्होंने यज्ञ करना बन्द करादिया है, ये "आरण्यक" ग्रन्थ उन्हींके लिए हैं। उन्हीं के काम की बातें इनमें हैं। "आरण्यक" से उतरकर उपनिषद् हैं। वे सब ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत हैं।" "यज्ञ सम्बन्धी क्रियाकलाप अर्थात् कर्मकाण्ड का विषय जब बहुत पेचीदा होगया और साधारण आदमी ब्राह्मण ग्रन्थों का ठीक ठीक मतलब समझने अथवा तदनुसार क्रिया निर्वाह करने में असमर्थ होने लगे तब श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रों की उत्पत्ति हुई। इन ग्रन्थों में सब बातें थोड़े में समझाई गई हैं। श्रौत-सूत्रों में श्रुति-(यहां 'ब्राह्मणों' से मतलब हैं) में उल्लिखित बड़े बड़े यज्ञों के विधान आदि हैं; गृह्य-सूत्रों में जनन, मरण, विवाह आदि संस्कारों की विधि हैं; और धर्म-सूत्रों में धर्म-सम्बन्धी, अर्थात् धर्मशास्त्र या स्मृतियों की बातें हैं"

"इनके सिवा "अनुक्रमणी" नामक ग्रन्थों की गिनती भी वैदिकसाहित्य में की जाती है। इन ग्रन्थों में वेदों के पाठ आदि का क्रम

लिखा है। यह इसलिये किया गया है जिसमें वेदों को कोई अंश खो न जाय, अथवा उसमें पाठान्तर न हो जाय। एक अनुक्रमणी में तो ऋग्वेद के सूक्तों की, मंत्रों की, शब्दों की, यहां तक कि अक्षरों तक की गिनती भी दी है ? ।"

"प्रातिशाख्य, परिशिष्ट, वृहद्देवता, निरुक्त आदि भी वैदिक साहित्य के अङ्ग हैं।"

"ऋग्वेद सव वेदों से पुराना है। वही सवसे अधिक महत्त्व का भी है। मंडल नामक १० अध्यायों में वह विभक्त है। कोई १५ प्रकार के वैदिक छन्दों में उसकी रचना हुई है। ऋग्वेद का कोई चतुर्थांश गायत्री-नामक छन्द में है। ऐसे तीन ही छन्द हैं जिनका प्रयोग अधिकता के साथ किया गया है और छन्दों का कम प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न ऋपियों के द्वारा भिन्न भिन्न समय में हुई है। इस वेद के ऋषि प्रतिभाशाली कवि थे—कवि नहीं, श्रेष्ठ[1] कवि थे। इसके अधिकांश मन्त्रों की रचना वैदिक देवताओं का उद्देश करके की गई है। उनमें उनके वल, वीर्य्य, शक्ति, प्रभुता, औदार्य्य आदि की प्रशंसा है। इन मंत्रों के रचयिता ऋषियों ने देवताओं की स्तुति और प्रशंसा के द्वारा उनसे लौकिक सुख-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। वहुत से पशु, वहुत से पुत्र पौत्र, वहुत सा ऐश्वर्य, दीर्घायु और शत्रुओं पर विजय-प्राप्ति के लिए उन्हों ने देवताओं की स्तुति की है। लौकिक[2] सुख-प्राप्ति की तरफ उनका

---

१ सुरा मांस द्यूत स्त्रैग आदि की वेहूदी वातें करते थे आप उनको श्रेष्ठ समझते हैं ? धन्य है ऐसे श्रेष्ठ कवियों को।

२ जिन वैदिक ऋषियों को लौकिक सुख की तरफ ध्यान अधिक था फिर उन ऋषियों को तत्त्ववेत्ता कौन कह सकता है ! और जिन वेदों में पारलौकिक अर्थात् मुक्ति सुख प्राप्त करने की वातें कम और लौकिक सुख की वातें विशेष हैं उन ग्रन्थों को कौन वुद्धिमान सद्मार्गदर्शक शास्त्र कह सकता है ? वाममार्गी आदि नास्तिक लोगों का भी लौकिक सुख की तरफ ही ख्याल रहता है और जव वैदिक ऋषियों का यह हाल था तो फिर वैदिक ऋषियों में और वाममार्गियों में अन्तरही क्या रहा !

ध्यान अधिक था, पारलौकिक की तरफ कम । यज्ञों के संबन्ध में अग्नि और सोम आदि देवताओं के लम्बे लम्बे स्तोत्रों से ऋग्वेद भरा हुआ है । बीच बीच में याज्ञिक विषयों के आ जाने से स्तोत्र-जनित रसानुभव में यद्यपि कुछ विघात होता है, तथापि जिस सादगी और जिस भक्ति भाव से पुरातन ऋषियों ने अपने विचार प्रगट किये हैं वह अवश्य [1]प्रशंसनीय हैं । इन्द्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वन्, सविता, पूषण, ऊषा आदि जितने देवताओं की स्तुति की गई है प्रायः उन सब से मतलब किसी न किसी प्राकृतिक पदार्थ से है। अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं और [2]प्राकृतिक दृश्यों ही को देवता मानकर, या उन पर देवत्व का आरोप करके, उनका स्तवन किया गया है । एक ऋषि आश्चर्य पूर्वक कहता है, यह [3]सूर्य आकाश से गिर क्यों नहीं पड़ता ?

[4]दूसरा कहता है ये तारे दिन में कहां चले जाते हैं ? तीसरे

---

१ क्यों न प्रशंसनीय हो ! जिन्होंने अपने मतलब को (ऐहिक) ही धर्म मान रक्खा है उनके लिए बेशक प्रशंसनीय है ? परंतु न मालूम वेदविख्यात जी (कि जो वेदों के संबन्ध में घृणित और आश्चर्य जनक बातें लिख कर भी) फिर किस कारण से वैदिक ऋषियों के विचार प्रशंसनीय समझ रहे हैं ?।

२ प्राकृतिक पदार्थों को देवता समझ अथवा प्राकृतिक वस्तुओं पर देवत्व का आरोपकर स्तवन किये हैं इससे भी वैदिक ऋषियों की अज्ञता स्पष्ट झलक रही है फिर ऐसे ऋषियों के रचे ग्रन्थ कैसे सर्व मान्य हो सकते हैं ।

३ जिन वैदिक ऋषियों को वैज्ञानिक बातों का इतना भी ज्ञान नहीं था उन के रचे ग्रन्थ तत्त्वद्रष्टा कैसे हो सकते हैं ? देखिए ! यह वेदों की योग्यता । आकाश में सूर्य रहता है इस बात को भी वे अच्छी तौर से नहीं समझ सकते थे तभी तो उनकी सूर्य के संबन्ध में ऐसी कल्पना हुई होगी यदि वैदिक ऋषि तत्त्व-वेत्ता होते तो इस बात को क्यों नहीं समझ सकते । 'ग्रन्थकर्ता'

४ क्या वैदिक ऋषियों को इतना भी मालूम नहीं था कि 'सूर्य के प्रकाश के प्रभाव से तारे नहीं दीखते' जो इतना अज्ञताभरा प्रश्न का गंभीर विचार करने लगे । ऐसे अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानियों के रचे वेदों पर कौन बुद्धिमान् विश्वास रख सकता है ।

को यह विस्मय हो रहा है कि बड़ी बड़ी अनेक [1]नदियों के गिरने पर भी क्यों समुद्र अपनी हद से बाहर नहीं जाता ? इसी तरह [2]आश्चर्य्य और कौतुक के वशीभूत होकर प्राचीन ऋषियों ने [3]प्राकृतिक पदार्थों को देवता मानना आरंभ कर दिया । इस आरंभ का अन्त कहाँ जाकर पहुँचा, इसे कौन नहीं जानता ? ऋग्वेद के ३३ देवता बढ़ते बढ़ते ३३ करोड़ हो गये ।"

"मीमांसा दर्शन के कर्ता जैमिनि का मत है कि "देवता" नामक कोई सजीव पदार्थ नहीं है । "इन्द्र" कहने से इस शब्द को देवता मान लेना चाहिए । अपने दर्शन के छठे अध्याय में:—"

"फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्"

इस सूत्र से आरम्भ करके आपने देवताविषयक बहुत सी बातें लिखी हैं । आप के कथन का सारांश यह है कि वैदिक देवताओं के न जीव है और न शरीर । यदि ये देवता शरीरी होते तो यज्ञ के समय आकर जरूर उपस्थित होते । सो तो होता नहीं । यदि यह कहें कि वे आते तो हैं पर अपनी महीमा के बल से हम लोगों की आँखों से अदृश्य रहते हैं तो भी ठीक नहीं । क्योंकि, इस दशा में, यदि दस जगह भिन्न भिन्न यज्ञ होंगे तो एक शरीर को लेकर वे कहाँ कहाँ जायँगे ? अतएव मंत्र ही को देवता मान लेना चाहिए । परंतु इस विषय में और अधिक न लिखना ही अच्छा है ।

---

१ यह फिर भी वैदिक ऋषियों की अज्ञता अल्पज्ञता का नमूना देख लीजिए कि जिनको संसार की परिस्थितिका का कुछ भी मालूम न था ।

२ जिन वेदों की रचना आश्चर्य और कौतुक के वशीभूत हुए वैदिक ऋषियों ने की है तिन वेदों में पारमार्थिक बातें कहाँ से हो सकती हैं । पक्षपात को त्याग के देखा जाय तो वेद सम्यक्पथद्रष्टा मालूम नहीं होते ।

३ प्राकृतिक पदार्थों को देवता माना है इसका कारण प्रायः यह होना चाहिये कि वैदिक ऋषि सुरापान के वशीभूत होकर उन्मत्तता से चाहे उन पदार्थों पर कल्पना करने लग गये होंगे । क्योंकि सुरा का पान करने वालों के हृदय में शुद्ध विचार की जगह नहीं रहती और उद्गार विचारानुसार होता है इसलिये उन की बातों पर बुद्धिमान् मनुष्य विश्वास नहीं कर सकते ।

वैदिक समय में पशुहिंसा बहुत होती थी। यज्ञों में पशु बहुत मारे जाते थे और उनका मांस भी खाया जाता था। उस समय कईएक पशुओं का मांस खाद्य समझा जाता था, उनके नामनिर्देश करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इस विषय के उल्लेख जो वेदों में पाए जाते हैं उन्हें जाने दीजिए किन्तु महाभारत में चर्मण्वती नदी और रन्तिदेव राजा का जो वृत्तान्त है उसेही पढ़ने से पुराने जमाने की खाद्याखाद्य चीजों का पता लग जाता है। सोम रस का पान तो उस समय इतना होता था कि जिसका ठिकाना नहीं पर लोगों को सोम पान की अपेक्षा [1]हिंसा अधिक प्यारी लगती थी। इसी वैदिकी हिंसा को दूर करने के लिए गौतम बुद्ध को "अहिंसा [2]परमो धर्मः" का उपदेश देना पड़ा"।

"सामवेद के मन्त्र प्रायः ऋग्वेद से ही लिये गये हैं, सिर्फ उनके स्वरों में भेद है। वे गाने के निमित्त अलग कर दिये गये हैं। सोम यज्ञ में उद्गताओं के द्वारा गाने के लिये ही सामवेद को पृथक् करना पड़ा है। सामवेद भी यज्ञ से संबन्ध रखता है और यजुर्वेद भी। सामवेद का काम केवल सोम यज्ञ में पड़ता है, यजुर्वेद में सभी यज्ञों के विधान आदि हैं। साम की तरह यजुर्वेद भी ऋग्वेद से

---

१ जिन वेद शास्त्रों में हिंसा का प्रचुर उपदेश है, इतनाही नहीं किन्तु सुरापान याने दारू का भी पीना कुछ कम नहीं लिखा है। ऐसे गर्ह्य और नीच पथपर मनुष्यों को ले जानेवाले शास्त्रों को हम सर्वथा हेय समझते है। हमही क्या कोई भी बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार न करेगा। आश्चर्य है कि ऐसे वेदों को माननेवालों के दिल में कुछ विचार भी नहीं आता!

२ यह सिद्धांत बौद्धों का नहीं किन्तु जैनों का मुख्य सिद्धांत है। जैन तीर्थंकर-गणधर अनंत काल से इस सूत्र का उपदेश करते चले आये, और भविष्य में (होने वाले) तीर्थंकर भी करेंगे। ऐसा जैनों का मानना है। गौतम बुद्ध ने इस सिद्धान्त का कुछ अंश लिया परंतु पूरा नहीं इसीसे बौद्धमतानुयायी गौतम बुद्ध के समय में भी मांस खाते थे और आज भी खाते हैं। जैन और बौद्ध धर्म को जो लोग एकही बतलाते हैं अथवा एक को एक की साखा कहते हैं उनकी भूल है किन्तु दोनों धर्म अलग अलग हैं। तीर्थंकर महावीर जी का शिष्य गणधर गौतम और बौद्ध धर्मोत्पादक गौतम बुद्ध के नाम एक होने से दोनों एक नहीं हो सक्ते।

उद्धृत किया गया है; पर हां साम की तरह प्रायः बिलकुलही ऋग्वेद से नकल नहीं किया गया। यजुर्वेद (वाजसनेय-संहिता) का कोई एक चतुर्थांश मन्त्रभाग ऋग्वेद से लिया गया है; शेष यजुर्वेदही के ऋषियों की रचना है। यजुर्वेद में गद्य भी है, सामवेद में नहीं, क्योंकि वह गाने की चीज है। यजुर्वेद के समय में ऋग्वेद के समय की ऐसी मनोहारणी वाक्यरचना कम होगई थी। उस समय स्तुति प्रार्थना की तरफ ऋषियों का ध्यान कम था। यज्ञसंबन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म नियम बनाकर उसीके द्वारा अपने सौख्यसाधन की तरफ उनका ध्यान अधिक था। इसीसे जरा जरा सी बातों के लिए भी उन्हें विधि विधान बनाने पड़े थे। लौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति की कुञ्जी यज्ञही समझा गया था"।

"विनायक विश्वनाथ वेदविख्यात"

पाठक! वेद विख्यात जी के इस लेख से वेदों के संबंध में आप लोग अच्छी तौर से समझ सकते हैं। वेद ईश्वरकृत अथवा अपौरुषेय नहीं हैं किन्तु मनुष्यनिर्मित हैं वेदविख्यात जी ने भी यही मत प्रकट किया है और और भी इस बात के अनेक प्रमाण मिल सकते हैं।

वेद किसके कहे हुए हैं इस संबंध में वैदिकों का भी एक मत नहीं है। कई वेदों को अनादि कहते हैं और कई ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए मानते हैं। कई कहते हैं कि ब्रह्मा के मुखरूप ब्राह्मण हैं और वेद ब्राह्मणों के मुख से कहे हुए हैं इससे ब्रह्मा के ही कहे हुए मानना चाहिए। ऋग्वेद के मंत्र ७ भाग २ पर लिखा है कि वेद परमेश्वर से आये हैं अतएव सब प्रकार से स्तुतियोग्य हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि वेद परमेश्वर[1] के श्वास से निकले हैं। मनुस्मृति अध्याय १ श्लोक २३ पर लिखा है कि ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, और सूर्य से ऋग्-

---

[1] ईश्वर तो अदेह है फिर श्वास देह बिना कहाँ से आया! क्योंकि श्वास देहधारी के होता है। यदि किसी देहधारी मनुष्य का नाम ईश्वर परमेश्वर हो और उसके भी श्वास से वेदों की उत्पत्ति मानें तौ भी असंभाव्य है तो फिर अदेह ईश्वर के श्वास से वेदों की उत्पत्ति माननी नितान्त भ्रमात्मक है।

यजुः और साम आकृष्ट किये और यह भी फिर उसी श्लोक में लिखा है कि तीनों वेद असल में सनातन हैं। वैदिक महाशय चाहे वेदों को सनातन मानें अथवा ईश्वरकृत मानें उनकी श्रद्धा की बात है परंतु तटस्थरीत्या देखने से यह बात नहीं पाई जाती है, क्यों किः—

"ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,
वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च।
पुंसश्च ताल्वादिरतः कथं स्या-
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः?" ॥ १ ॥

(श्रीमान्-हरिभद्रसूरिः)

भावार्थ—वर्ण (अक्षर) के वर्गों की सृष्टि तालु आदि स्थान से और जिह्वा के प्रयत्न से है और यह बात प्रकट है कि वेद वर्णात्मक हैं और तालु आदि स्थानप्रयत्न मनुष्य के होते हैं अतएव वेद 'अपौरुषेय' है यह प्रतीत कैसे हो? !

शब्दरूप वाणी का उच्चारण अशरीरी से नहीं हो सकता। निराकार ईश्वर मुख से बोले यह विचारशील मनुष्य कभी स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि जब आकारही नहीं है तो मुख कहाँ से आया और मुख के विना उच्चारण कहाँ से हो सक्ता है क्या ईश्वर कोई इंग्रेजी बाजा है? । यदि कोई यह कहे कि ईश्वर ने ऋषियों को प्रेरणा की तो अशरीरी को प्रेरक मानना युक्तिविकल है। वेद शब्दरूप है और जो जो शब्दरूप है वह देहधारी का ही कथन हो सकता है। सत्य पूछो तो वेदों की उत्पत्ति मनुष्योंही से है। वेदों के बारे में इस ग्रंथ में जो जो बातें लिखी गई हैं उन्हें देख वेद के पक्षपाती अवश्य नाराज़ होंगे परन्तु विना प्रमाण कैसे कहें कि वेद अपौरुषेय हैं।

वस्तुतः पूर्वोक्त अनेक प्रमाणों के आधार पर कह सक्ते हैं कि वेदों की सृष्टि मनुष्यों से ही है। पाश्चात्य विद्वान मोक्षमूलर आदि का अभिप्राय है कि "वेद के वचन ऐसे हैं कि जैसे अज्ञानियों के मुख से

अकस्मात् वोले जाते हों और इनकी रचना अनुमान ३००० वर्ष से हुई है ।

अनुमान होता है कि वैदिक ऋषियों ने सुरा पानकर उन्मत्तता से, कौतुक के वशीभूत होकर जैसे प्राकृतिक पदार्थों को देवता माना है वैसेही जगत्कर्त्ता होना भी माना हो ! " विना किये कोई पदार्थ नहीं बनता इसलिये जगत् का कर्ता ईश्वर अवश्य है " ऐसा समाधान करके वेद में लिख दिया हो कि " जगत्कर्ता ईश्वर है " और उनके अनुयायिओं ने इस बात को पीछे से पकड़ रक्खा हो तो भी आश्चर्य नहीं !

कितनेक महाशयों का यह मत है कि—"ईश्वर, प्रकृति, काल, आकाश और जीव के अनादि होने से इस जगत की उत्पत्ति होती है " इसका उत्तर यह है कि जव यह तीन वस्तु अनादि हैं तो फिर ईश्वर ने क्या जगत रचा ? इससे तो सव पदार्थ अनादि सिद्ध हो चुके और सब पदार्थ अनादि होने से ईश्वर का रचा जगत् कभी सिद्ध नहीं हो सकता ? ईश्वर को कर्ता मानने वालों की वहादुरी जव समझी जाय कि बिना किसी पदार्थ से ईश्वर ने सृष्टि रची है यह न्याययुक्त सिद्ध करदें। यदि ईश्वर को जगत्कर्ता मानने वाले पूर्वोक्त तीन वस्तु को अनादि मानेंगे तो यह वेद वाक्यः—

"एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"

झूठा होगा, क्योंकि उक्त ऋचा में उस आत्मा से आकाश की उत्पत्ति मानी है । एक जगह पर अनादि कहना और दूसरी जगह उत्पत्ति- मानना यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है । इससे यह भी आपका तर्क कल्पित है ईश्वर जगत् का कर्ता किसी युक्ति या प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता । यह निःसन्देह वात है ।

कई महाशय जव सव प्रकार से निरुत्तर हो जाते हैं तव यह भी कह दिया करते हैं कि—"जैसा जीव कर्म करता है वैसा पाता है । परंतु शुभाशुभ कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर है । क्योंकि कर्म

जड है इसलिए स्वतः जीव प्राप्त नहीं कर सक्ता । इससे देनेवाला कोई होना ही चाहिए । कर्म करनेवाला जीव है और फल देनेवाला ईश्वर है।" इसका प्रत्युत्तर यह है कि जैसा जीव करता है वैसा पाता है और यदि देनेवाला ईश्वर है तो प्रथम तो आपसे हमारा यह प्रश्न है कि फिर ईश्वर ने अपनी ओर से क्या दिया ? कुछ भी नहीं । और आप जो यह हेतु देते हैं कि कर्म जड है इसलिए ईश्वरद्वारा फल मिलता है; सो यह भी भ्रम है । जैसे विपमिश्रित भोजन करने से मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है परंतु विप जड पदार्थ है उसको यह ज्ञान नहीं है कि जो मुझे खाता है उसकी मृत्यु हो जाती है, तथापि उसको खानेवाला अवश्य मृत्यु के मुख में गिरता है । वैसे ही पौष्टिक पदार्थ मृगाङ्क, मकरध्वज, चंद्रोदय आदि मात्राएँ अथवा घृत, दुग्ध आदि भक्षण करने से मनुष्य का शरीर पुष्ट होता है, परंतु उक्त पदार्थों को सर्वथा यह मालूम नहीं कि हमारे सेवन करने वाले की पुष्टि होती है। अथवा जैसे चुम्बक पत्थर, लोहे का आकर्षण करता है तो पापाण और लोह दोनों ही जड पदार्थ हैं परन्तु चुम्बक पत्थर में ऐसा ही स्वाभाविक गुण है कि वह लोह को आकर्पण किये विना नहीं रह सकता । इसमें जैसे प्रेरक का कोई काम नहीं तद्वत् कर्म जड़ होने से क्या हुआ ? कर्म फल भोगने में भी ईश्वर का कोई काम नहीं है कर्मों में यह स्वाभाव है कि शुभ कर्म के कर्ता को शुभ सामग्री और अशुभ कर्म के कर्ता को अशुभ सामग्री स्वतः प्राप्त हो जाती है । याद रहे द्रव्य अपना परिणाम नहीं छोड़ता । कर्मों को जड कहकर शुभ कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर सिद्ध करना चाहें तो नहीं हो सकता। जीव शुभाशुभ परिणाम के उपयोग से शुभाशुभ कर्म आकर्पण करके आत्मा को लोलुपीभूत करता है यह अनादि अनंत काल की स्थिति है। सब वस्तुओं का स्व स्व स्वरूप में अस्तित्व है इसमें ईश्वर का कोई काम नहीं । जगत का कर्ता ईश्वर है इस बात को स्वीकार करनेवाले यह कहा करते हैं कि कर्ता भोक्ता एक ईश्वर है, दूसरा कोई नहीं और जब इस बात में पक्ष निर्बल होता देखते हैं तो शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वर देता है ऐसा कहना

शुरू कर देते हैं। हम पूछते हैं कि आपका जगत्कर्ता ही सब कुछ है तो फिर कर्मों को मानने की क्या गरज़ रही?

'जगत्कर्तामाननेवालों का यह हठ है कि विना किये कुछ भी चीज नहीं होती, इससे जितने पदार्थ हैं उनका करनेवाला कोई होना ही चाहिये। उत्तर में ज्ञात हो कि फिर आपके ईश्वर का भी कर्ता कोई होना चाहिए? क्योंकि आपका ईश्वर विना ही किये कैसे हो गया।

यदि कहाजाय कि ईश्वर का कर्ता कोई नहीं है ईश्वर स्वतः सिद्ध है। संसार का रचयिता ईश्वर मानना ठीक है परंतु ईश्वर का कर्ता मानना ठीक नहीं। हम कहते हैं कि क्यों ठीक नहीं! आप *प्रथम कह चुके हो कि विना किये कुछ भी पदार्थ नहीं वनता* इससे तो ईश्वर का भी कर्ता कोई होना उचित है और अब कह रहे हो कि ईश्वर का कर्ता कोई नहीं। जैसे आप ईश्वर का कर्ता कोई नहीं मानते तद्वत् जगत् का कर्ता भी कोई नहीं ऐसा मान लिया जाय तो किसी भी तरह का वाद विवाद का कारण नहीं रह सक्ता, और ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानने में ईश्वर में भी किसी प्रकार का दोष नहीं आता। परन्तु ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने में अनेक दोष आते हैं यह हम प्रथम दिखा आये हैं इसलिए यहाँ पर लिखने की जरूरत नहीं।

कितनेक ईश्वर वादियों का मानना है कि जगत् के उत्पत्ति के प्रथम केवल जगत् का कर्त्ता एक शुद्ध, वुद्ध, सच्चिदानंद परमेश्वर ही था और दूसरी कुछ भी सामग्री नहीं थी और सब पदार्थ (वस्तु) ईश्वर के ही रचे हुऐ हैं और कितनेक ईश्वरवादी जगत् की उत्पत्ति के प्रथम एक ईश्वर और दूसरा जगत्उत्पन्नकरने की सामग्री (काल-दिशा-प्रकृति) और जीव इन तीनों को अनादि माना है इन दोनों ही प्रकार के ईश्वरवादियों के प्रश्नों का उत्तर न्याययुक्त इस ग्रंथ में दिया गया है फिर कोई ईश्वरवादी महाशय तर्क करेगा तो यथासाध्य उत्तर देने में विलम्ब नहीं किया जायगा। किसी महाशय के मन में इस विषय पर कुछ लिखने की उम्मेद हो तो बेशक कुछ लिखें, गौर किया जायगा।

जब ईश्वरवादी सर्व प्रकार से निरुत्तर हो जाते हैं तो यह कहा करते हैं कि जब ईश्वर को सृष्टि का कर्ता वा प्रेरक न मानें तो ईश्वर को कैसा माने ! और जब ईश्वर कुछ करता ही नहीं है तो ईश्वर को मानने से ही क्या लाभ होगा ? । ईश्वरवादी महाशय ! इसके उत्तर में सुनिए । ईश्वर को सांसारिक बातों का प्रेरक मानने से अथवा जगत् का कर्ता मानने से पूर्वापर विरोध आता है इसीलिए जगत् कर्त्ता ईश्वर को मानने वालों को निरुत्तर होना होता है अतएव ईश्वर को ध्येयरूप मानने से ईश्वर में किसी प्रकार का भी दोष नहीं आता और ध्यान का आधार ध्येयरूप मानना क्या यह लाभ नहीं है ? वल्कि एतावन्मात्र ही महान् और उत्तम लाभ है ।

उपसंहार ।
और
(जैन तत्त्वज्ञान)

"यदि निष्पक्षपात होकर देखा जाय तो सत्य वात यह है कि, जीव और जड अनादि से मिले हुए हैं । इनका रचयिता कोई नहीं है । यौगिक और मिश्र पदार्थों के सूक्ष्म अणु-हजार, लाख, करोड, संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध कभी पृथक् २ हो भी सक्ते हैं; परंतु मूल परमाणुओं का विश्लेष कभी नहीं हो सक्ता । तात्पर्य एक परमाणु के दो विभाग नहीं हो सकते । अतएव सिद्ध हुआ कि मिश्र पदार्थ विनाशशील हैं परंतु असली पदार्थ विनाशशील नहीं । जीव अनादि और अमर है । एक शरीर से दूसरा शरीर धारण करना इसका नाम मृत्यु है । वर्तमान अवस्था पूर्वकृत कर्मानुसार और आगामी अवस्था वर्तमान में किए हुए कर्मों के अनुसार होती है । आत्मा जबतक सब कर्मों से मुक्त न होगा तब तक जन्म मरण रूप चक्र में भ्रमण करता रहेगा । जैसे मनुष्य मदिरा (सुरा) के पान करने से पराधीन अर्थात् उसके नशा के आधीन हो

जाता है तद्वत् आत्मा सर्व शक्तिमान अर्थात् अनंत शक्तिमान होने पर भी कर्माधीन होने से परिभ्रमण करता है । जो जीव जैसा करता है वैसा फल भोगता है। कर्मों का फल देनेवाला दूसरा मानना भ्रम है । कर्मों का भुक्तभोग पूरा हो जाने से जीव मुक्त[१] हो जाता है । पूर्व संचित कर्मों को दूरकर आगामी कर्मों का वंध पड़ना रोक देवे तभी जीव की मुक्ति होती है। जगत् का कर्ता कोई नहीं स्वतः अनादि काल से प्रवाहरूप चला आता है । मुक्त जीव फिर संसार में लौट के नहीं आते । जो लोग मुक्त जीवों का फिर संसार में लौट आना मानते हैं उनमें वह बुद्धि का दोष है । सर्व पदार्थ स्वतः अपना अपना कार्य करते रहते हैं और काल, स्वभाव, नियति, उद्यम, और कर्म इन पांचों का समवायसंवंध, पदार्थों के संयोग में निमित्त है । जैसा कि सूत्र के तंतु के पुंज से पट की उत्पत्ति होने का समय इसको "काल" जानना और सूत्र के पुंज में पट की उत्पत्ति करने की योग्यता है इसको "स्वभाव" जानना । पट के बनाने का पुद्गल जैसे रूई है इसको "नियति" समझना, भवितव्यता-प्रारब्ध-दैव-अदृष्ट-जीवकृत धर्माधर्म, किंवा पुद्गलादि भी नियति का अर्थ होता है अथवा जिन जिन पदार्थों के जैसे २ स्वभाव हैं उन उन पदार्थों का वैसा वैसा जो परिणाम हो उसका भी नाम नियति है। जिस सूत्र के तंतु के पुंज से जिस पट की उत्पत्ति का जो निमित्त होना वह "पूर्व कर्म" समझना चाहिए । और तंतु के पुंज से पट की उत्पत्ति करने का जो उद्योग करना उसको "उद्यम" जानना चाहिये । इन पांचों के समवाय संबन्ध के योग से सब कार्य होते हैं इसमें ईश्वर का कुछ काम नहीं । जड, चेतन पदार्थ स्वयं अनादि सिद्ध हैं । पुरुष विना स्त्री नहीं, और स्त्री विना पुरुष नहीं । वीज विना वृक्ष नहीं, और वृक्ष विना वीज नहीं । पृथवी, जल, वायु और आकाश इनके विना, मनुष्यों की अथवा वृक्षों की स्थिति होना प्रायः दुःसाध्य है । जड़ और चेतन इन दोनों पदार्थों के अंतर्गत सब पदार्थों का समा-

---

१ शरीरादि सर्व पदार्थों से आत्मा का आत्यन्तिक वियोग हो जाने का नाम मुक्ति है । जो आत्मिक सुखों में मग्न रहे उसे मुक्तात्मा कहते हैं ।

वेश हो सकता है । प्रत्येक पदार्थ में अपना अपना गुण ठहरा हुआ है । मृत्तिका में यह गुण है कि अग्नि में रहने से कठोर और रक्तवर्ण हो जाती है परन्तु कागज़ में उक्त गुण नहीं है । वह न कठोर हो सकता है और न लाल । काष्ठ की लकड़ी दो लेकर और छीलछिलाकर परस्पर दोनों को फसादो और ठोककर चुस्त करदो जोड़ लग जायगा और परस्पर एकमें एक मिलकर एक समान होजायगी । परन्तु धूलिपर धूलि रखने से जोड़ नहीं लगसकता, इसी तरह संसार के सर्व पदार्थों की परीक्षा करने से सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु में पृथक् पृथक् स्वाभाविक गुण रहते हैं । अनेक पदार्थ ऐसे संसार में हैं जिनके मिलने से और पृथक् पृथक् होने से अनेक नवीन स्वभाव उत्पन्न होते हैं । जैसे श्याम[1] और पीत रंग मिलने से हरितभाव होता है । घास का बीज पृथिवी में बोने को कोई नहीं जाता; परंतु वर्षा के पानी का योग पाकर स्वतः अंकुर निकलकर घास उग जाता है । तद्वत् संसार में पदार्थों का ओत प्रोत (उलट-पलट) होकर नाना प्रकार के नवीन भाव सदा उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं । इस प्रकार की रचना को अज्ञ अथवा अल्पज्ञों ने ईश्वर की रचना समझ रक्खी है । जीव जैसा कर्म करता है तदनुसार उसको फल स्वतः प्राप्त होता है, ईश्वर को इसमें मध्यस्थ होने की कोई आवश्यकता नहीं है । कोई ऐसा न्यायशील मनुष्य संसार में नहीं दीखता कि जो रागद्वेष-रहित ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता सिद्ध कर दे ! जो लोग पक्षपातरूप [2]कंथा ओढ़कर बैठे हुए हैं वे युक्ति प्रमाण को कुछ चीज नहीं समझते । यदि वे कदाचित् लेखनीद्वारा अथवा वक्तृताद्वारा हठात् अपने मन्तव्य सिद्ध करने का प्रयत्न भी करें तो भी बुद्धिमान् और विवेकी पुरुष, उस दुराग्रह को शीघ्र समझकर उनके मन्तव्य को अपने हृदय में स्थान नहीं देते !

जगत् रचना की ओर लक्ष्यपूर्वक देखा जाय तो इतनी बात अवश्य है कि कारणरूप जगत्; अर्थात् जड, चेतन पदार्थ अनादि से है और

१ इस बात पर विशेष देखने की जिसकी इच्छा हो वह भौतिक शास्त्र देखे ।

२ गुदड़ी ।

कार्य रूप जगत्; अर्थात् नाना प्रकार के पदार्थ जो कृत्रिम दृष्टिगत हो रहे हैं उनके बनानेवाले सब संसारी जीव हैं । इसमें ईश्वर का कुछ संबंध नहीं ।

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयमेव विनश्यति" ॥१॥
"यः कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणम्" ॥१॥

आत्मा अज्ञान के उदय से बुरे और ज्ञान के उदय से अच्छे आपही स्वतः कर्म करता है, और स्वयं ही भोगता है, स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है और स्वयं ही एक गति से दूसरी गति में जाता है, जिसको व्यवहार में मर गया कहते हैं। जब सब कार्यों से निःस्पृही होकर आत्मा का साधन करेगा तब जन्म, मरण से छूटकर सर्व कर्मों से विमुक्त हो जायगा; फिर संसार में परिभ्रमण करना न होगा ।

माता के उदर में जिस समय जीव आता है उस समय पूर्वभव के, पुण्य पाप के बंध के अनुसार अच्छा या बुरा शरीर बनाता है और शरीर संपूर्ण होजानेपर जन्म धारण करता है । यदि आयुः पूर्ण होता है तो अधिक काल उस शरीर में रहता है। शुभ कर्मों से सुख और अशुभ कर्मों से दुःख जीव को होता है यह सरल मार्ग है।

जैन शास्त्रों में अरि[1]हन्त और सिद्ध को देव मानते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु को गुरु मानते हैं। ज्ञान, दर्शन; चारित्र और तप को धर्म का मूल माना है। उक्त शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म इन

---

१ अन्तरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः । हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥१॥ कामो मिथ्यात्वमज्ञानं, निद्रा च विरतिस्तथा । रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥२॥ भावार्थ—१ दानान्तराय २ लाभान्तराय, ३ वीर्यान्तराय, ४ भोगान्तराय, ५ उपभोगान्तराय, ६ हास्य, ७ रति, ८ अराति, ९ भय, १० जुगुप्सा, ११ शोक, १२ काम, १३ मिथ्यात्व, १४ अज्ञान, १५ निद्रा, १६ अविरति, १७ राग, १८ द्वेष । इन अठारह दोषों से रहित अरिहन्त होते हैं ।

तीन तत्त्वों को जो पूर्ण जानकार दृढ श्रद्धावान् हो वही विशुद्ध जैनी कहा जा सकता है। जिस देव में अठारह दोष हों अथवा अठारह में से एक भी दोष मिले उसे शुद्ध देव नहीं जानना। और जो गुरु कनक कामिनी का लोलुपी हो वह सुगुरु नहीं हो सकता और जो धर्म हिंसाप्रचुर अज्ञानियों द्वारा प्रणीत हो वह शुद्ध धर्म नहीं हो सकता। इन तीन तत्त्वों का जैन शास्त्रों में खूब विचार किया गया है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ (तत्त्व) माने हैं। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय-पुद्गल और जीव यह षट् द्रव्य हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरु लघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, और अमूर्त्तत्व, यह दश द्रव्य के सामान्य गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनाहेतुत्व, वर्त्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व यह द्रव्य के सोलह विशेष गुण हैं। अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भेद, अभेद, भव्य, अभव्य और परम यह ग्यारह द्रव्य के सामान्य स्वभाव हैं। चेतन, अचेतन, मूर्त्त, अमूर्त्त, एक प्रदेश, अनेक प्रदेश, विभावस्वभाव, शुद्ध स्वभाव, अशुद्ध स्वभाव और उपचरित स्वभाव यह दश द्रव्य के विशेष स्वभाव हैं। वस्तु के एक एक धर्म पर सप्तभंगी की रचना जानने योग्य है। स्याद्वाद[1] न्याय से जिस वस्तु की परीक्षा की जाय और वह ठीक परिक्षा में उतरे वह सत्य है। सभी वस्तु उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्य गुण से युक्त है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य, और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। वस्तु स्व रूप करके अस्तित्व में है और पर रूप करके अस्तित्व में नहीं है, अर्थात् पर रूप करके अस्ति नहीं और स्वरूप करके नास्ति नहीं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण माने हैं। तीर्थंकरों ने एक श्रावक (गृहस्थ) धर्म और दूसरा यति धर्म कहा है। श्रावकों के लिये दशविध धर्म इस प्रकार जानना:—

---

[1] १ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्ति नास्ति, ४ स्यादवक्तव्य, ५ स्यादस्ति अवक्तव्य, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य, ७ स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। यह सप्तभंगी अर्थात् स्याद्वादन्याय की मुख्य बातें हैं।

"दया दानं दमो देवपूजा भक्तिर्गुरौ क्षमा ।
सत्यं शौचं तपोऽस्तेयं, धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्" ॥१॥

१ सर्व जीवों पर अनुकंपा-दया रखना, २ अभय सुपात्रादि दान देना, ३ पंच इन्द्रियों का दमन, ४ जिनेंद्र देव की द्रव्य भाव सहित पूजा, ५ गुरु भक्ति, ६ क्षमा, ७ सत्य, ८ पवित्र रहना, ९ तपस्या करना और १० चोरी नहीं करना । यह दशविधधर्म गृहस्थों का कहा । धर्म कार्य में उद्यमी, आस्तिक, विनयवान्, शास्त्र गुरुमुख से श्रवण करने वाला, परलोक साधन के लिए, शुद्ध मन, वचन, काया से धर्मक्रिया करने वाला, सद्बुद्धियुक्त, संसार को असार समझकर लोभ लालच को घटानेवाला, विषय सुख को क्षणिक समझकर त्याग करनेवाला और कषाय को हटाकर स्वभाव को स्थिर रखनेवाला हो वही शुद्ध श्रावक हो सकता है ।

दूसरा यति धर्म दशविध इस प्रकार जानना:—

"खंति-अज्जव-मद्दव-मुत्ति-तव-संयमो य बोद्धवो ।
सच्चं सोयं अकिंचणं च बंभं च जई धम्मो" ॥ १ ॥

१ क्षमा, २ निरभिमान, ३ निष्कपट, ४ सर्व सांसारिक कार्यों से मुक्त, ५ तपयुक्त, ६ सत्रह प्रकार के संयम का पालनहार, ७ सत्य-ग्राही-सत्यवक्ता, ८ बाह्य आभ्यन्तर शौच, ९ सुवर्णादिक धातु के त्यागी, १० ब्रह्मचर्यव्रत सहित यह दशविध यतिधर्म कहा । और छ काय के रक्षक, शुद्ध उपदेश के देने वाले, षट द्रव्य की चर्चा के जानकार पंच महाव्रत धारक, पांच इन्द्रिय के २३ विषयों को जीतने वाले, कषायरहित, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के आराधक, जिनागम स्याद्वाद वाणी के जानकर, अप्रमादी धर्मधुरंधर, मोक्षमार्ग के दर्शक, गृहस्थाश्रम का त्याग, दीक्षा ग्रहणकर तीर्थंकरों के मार्ग को बतलाने वाला जो हो उसी को यतिधर्म का आराधक समझना चाहिए ।

जो गृहवास त्यागकर धर्मक्रिया करना चाहता है उसकेलिये तीर्थंकरों ने यतिधर्म बतलाया और जिनसे सांसारिक चीजों का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता उनके लिये श्रावक धर्म बतलाया है।

तीर्थंकरों का यह उपदेश है कि धर्म करो, सुस्त मत बैठो, जिन्दगी के घड़ीभर का भी भरोसा नहीं है। इसलिये सत्यदर्शी बनो, आत्मा परतन्त्रता से छूटे ऐसा मार्ग स्वीकारकरो और स्वतन्त्र बनाओ यही संसार में सार है।

प्रस्तुत भारत के अनेक विद्वान देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये आन्दोलन कर रहे हैं, अथाह परिश्रम व कष्ट उठा रहे हैं उनका यह विचार है कि देश की उन्नति हो और हमारे भारतवर्षीय जनसमूह सुखी सौभाग्यशाली बने! उनसे हमारा निवेदन है कि जैसे आप देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये दत्तचित्त बने हैं वैसेही आप आत्मा की स्वतन्त्रता अर्थात् स्वाधीनता प्राप्ति करने का भी प्रयत्न क्यों नहीं करते!।

ईश्वर को जगत् का कर्त्ता हर्ता मानने वाले और ईश्वरीय (सङ्केत) इच्छा से कार्य का होना न होना माननेवाले लोग हमारी समझ से हमेशाही के लिए परतंत्र है अर्थात् ईश्वर के अथवा ईश्वरीय इच्छा के आधीन ही हैं। देश की स्वतन्त्रता से मनुष्य प्राणिओं को पौद्गलिक (शारीरक) सुख प्राप्त होने का संभव है परंतु आत्मा की स्वतन्त्रता से आत्मिक सुख क्षणिक नहीं किन्तु हमेशा के लिये है। किंबहुना आत्मा को स्वतन्त्रता प्राप्त करना है अर्थात् जन्म जन्म की परतन्त्रता को नष्ट करना है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति करना है। सच्ची स्वतन्त्रता वही है जो शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत हुए आत्मा को सब कर्म बंधनों से छुड़ाकर आत्मिक सुखों में मग्न करना। जिसने आत्मा की स्वतन्त्रता प्राप्त करली है उसकेलिये न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। और स्वदेशी विदेशी भी समान हैं इसीलिये मैं अपने भारतवर्षीय सब मित्रों से यही सूचित करता हूँ कि यदि आप को सच्ची स्वतन्त्रता चाहिये तो ईश्वर को जगत्कर्ता मानना छोड़ दो

और जैन दर्शन के ग्रन्थों का दीर्घ दृष्टि से अवलोकन करो जिससे आपको सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्ति करने का मार्ग मिले।

अन्त में देशी विदेशी स्वधर्मी परधर्मी सब मित्रों से इस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़ने की प्रार्थना करके मैं इस ग्रंथ को यहाँ ही पूर्ण करता हूँ।

शुभानि भूयासुर्वर्द्धमानानि।

शम्

संवत् १९६५ कार्तिकवदी
षष्ठी गुरुवार
आकोला (वराड)
जैन श्वेताम्बर मन्दिर ताजना पेठ—

☞ सज्जनकृपाभिलाषी—

यति बालचन्द्र